

प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार, दिल्ली-६
मुद्रक : आगरा फाइन आर्ट प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२
सर्वाधिकार : सुरक्षित
संस्करण : १९६८
मूल्य : पाँच रुपये

भूमिका

अन्तस्तल पर 'भूमिका' उठाना—हवा में किले बनाना—आकाश में अट्टालिका उठाना है। इसके लिए गन्धर्व नगर-निर्माता अलौकिक 'इन्जीनियर' दरकार है ! 'अन्तस्तल' एक सच्चे जादू की पिटारी है, मानस भावों के चित्रों का विचित्र एलबम है, अन्दरूनी वायस्कोप की चलती-फिरती जीती-जागती तस्वीरें हैं, जिनके दृश्य दिल की आँखों ही से देखे जा सकते हैं, चर्म चक्षुओं का यह विषय नहीं है। हृदय की बातें हृदय ही से जानी जा सकती हैं, जड़ लेखनी का यह काम नहीं है। फिर भी इस अन्तस्तल के विषय में संक्षेप में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि—

कागज पे रख दिया है कलेजा निकाल के।

अन्तःकरण के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण मनोविज्ञान-शास्त्री का काम है। आजकल 'मनोविज्ञान' शास्त्र एक बड़े महत्त्व का विषय हो गया है। मनोविज्ञान के आचार्यों ने अपनी गूढ़ गवेषणाओं से—बहुत बागीक छानबीन से—इसे अत्यन्त समुन्नत दशा में पहुँचा दिया है।

मनोविज्ञानी का काम, कार्यकारण भाव का निरूपण करना है। क्रोध के आवेश में मनुष्य के मन की क्या दशा होती है, उस समय

उसमें किन-किन भावों का उदय होता है, क्यों होता है, उनका प्रभाव क्रोधाविष्ट व्यक्ति की बाह्य आकृति पर क्या पड़ता है, इत्यादि बातों की वैज्ञानिक खोज करना मनोविज्ञान के प्रवीण पारखी का काम है। मनोविज्ञान प्रदर्शन का यह प्रकार जितना महत्वपूर्ण है उतना ही गम्भीर भी है—सुगम नहीं है, रोचक भी नहीं है, ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कृषिशस्त्र का आचार्य या वनस्पति-विज्ञान का विद्वान ईख के क्रम-विकास का इतिहास वैज्ञानिक ढङ्ग से सुनाकर—ईख के पौदे की वृद्धि का विधान और उसमें रससंचार का प्रकार समझाकर—श्रोता के लिए विषय में इतनी सरसता या मधुरता नहीं ला सकता जितनी हलवाई खाँड खिलाकर या मिठाइयाँ चखाकर। खंडसाली या हलवाई गन्ने की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं करते। यह उनका काम नहीं। वह यह जानते भी नहीं कि मिठाई में यह मिठास कैसे और क्यों कर उत्पन्न हो जाता है, फिर भी उनका व्यापार—काम—है बहुत मधुर, इसका साक्षी हर कोई है। यह सार्वजनिक अनुभव है।

कवि या सहृदय लेखक का काम भी कुछ ऐसा ही है। वह मानसिक भावों की वैज्ञानिक व्याख्या करने नहीं बैठता, सिर्फ मनोहर चित्र खींचता है, जिन्हें देखकर सहृदय—‘समाखा’—दर्शक फड़क जाता है। कभी उसके मुख से आह निकलती है कभी बाह, कभी आँखों में आँसू आ जाते हैं, कभी होठों पर मुस्कराहट। अन्तस्तल में कभी-कभी के प्रस्तुत भाव सहसा जाग्रत हो उठते हैं, द्विपे हुए

दिली जजवात आँखों के सामने आकर नाचने लगते हैं । प्रस्तुत पुस्तक 'अन्तस्तल' इसका एक उत्तम उदाहरण है ।

इसमें अन्तस्तल के चतुर चितरे ने बड़े कौशल से—बड़ी सफाई से—मानसिक भावों के विविध रूप-रज के विचित्र चित्र खींचकर कमाल का काम किया है । मैं उन्हें इस सफलता पर बधाई देता हूँ । 'अन्तस्तल' हिन्दी में निःसन्देह अपने ढंग की एक नई रचना है । यह पाठक और लेखक दोनों के काम की चीज है । समझदार पाठकों के लिए यह शिक्षाप्रद मनोविनोद की सामग्री है और लेखकों के लिए भाव-चित्रण के दिग्दर्शन का बढ़िया साधन । इसकी वर्णनशैली में और भाषा में स्वाभाविकता है, इस कारण कहीं-कहीं प्रान्तीयता की झलक है, पर भावपूर्ण चित्रों की मनोहरता में वह खटकती नहीं, उसे गुललाला का दाग, चाँद का धब्बा या कमलपुष्प पर पड़ी हुई शैवाल की पत्ती समझ सकते हैं !

मैं आशा करता हूँ, हिन्दी साहित्य में यह पुस्तक बड़ा आदर और प्रचार पायगी ।

महाविद्यालय, ज्वालापुर ।

—पद्मसिंह शर्मा

तरंगायित धारा के अनुरूप आचार्य चतुरसेन का गद्य-काव्य

आचार्य चतुरसेन की लेखनी की धाक सबसे पहले उनके प्रवाहपूर्ण सरस गद्य-काव्य से ही जमी थी। भावनात्मक गद्य की अर्थहीन विक्षिप्त प्रलाप शैली को सार्थक और व्यावहारिक रूप देने का श्रेय यदि आचार्यजी को दिया जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। आचार्यजी की गद्य-काव्य की रचना 'अन्तस्तल' के प्रकाश में आते ही लेखक की गद्य शैली की चर्चा प्रारम्भ हुई और गद्य-काव्य के क्षेत्र में इस कृति को सर्वप्रथम स्पष्ट, स्वच्छ और सरस रचना का स्थान प्राप्त हुआ। मनोभावों को सहज और सरल रूप में व्यक्त करने की कला जैसी 'अन्तस्तल' में दृष्टिगत हुई, वैसी पहले के गद्य-काव्यों में कहीं विकसित नहीं हुई थी। कहीं वाग्जाल था तो कहीं उन्मत्त प्रलाप, कहीं कृत्रिम शब्दाडम्बर या तो कहीं अस्पष्ट, अव्यक्त भावावेश का अनर्गल विस्तार। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अन्तस्तल' के गद्य को तरंगवती धारा बताते हुए उसमें धारा और तरंग दोनों का समवेत रूप स्वीकार किया है जो पहले के कृत्रिम और भावुकतापूर्ण गद्य-काव्यों में लक्षित नहीं हुआ था।

यथार्थ में अपने आरम्भिक काल में लिखी हुई गद्य-काव्यमयी रचना 'अन्तस्तल' ही लेखक के शैलीगत भावी विकास का आभास देने वाली प्रतिनिधि रचना है। शैली का बीजभाव इसी रचना में समाविष्ट है और इसी का शाखा-प्रशाखा रूपों में विस्तार परवर्ती रचनाओं में हुआ है। अन्तस्तल आचार्यजी की शैली का सर्वांग निरूपक है। वह भावनाओं के सुकुमार, सजीले रूप और उनका सुष्ठु निरूपण है।

द्विवेदी युगीन गद्य के सम्बन्ध में आलोचकों ने परिष्कार और प्राञ्जलता

को बात इतनी अधिक दुहराई है कि उसके अन्य पहलुओं के उल्लेख का अवकाश ही नहीं मिला है। द्विवेदीजी का भाषा परिष्कार आन्दोलन पद्य के क्षेत्र में अपनी जो प्रतिक्रिया छोड़ गया था, क्या वैसी ही निर्जीवता उसने गद्य-क्षेत्र में उत्पन्न नहीं की थी? बाबू बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचन्द को छोड़कर अन्य सभी लेखक गद्य के शिल्प को व्याकरण के चौखटे में जड़कर द्विवेदीजी की नजर से देखने के अभ्यस्त बन गये थे।

भारतेन्दु युग में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने अपने निबन्धों में जैसी सजीवता और मधुरता का संचार किया था, वह द्विवेदीजी के शासन-दण्ड के भय से लुप्त हो गई थी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने द्विवेदीजी का शासन स्वीकार नहीं किया, उनके व्याकरण प्रयोगों को चुनौती दी, उनके शुद्धि आन्दोलन को भी ललकारा। अतः वह अपनी सजीवता और मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रख सके। प्रेमचन्दजी उर्दू भाषा के लेखक थे, हिन्दी का परिष्कार उनके लिए ग्राह्य होने पर भी उर्दू की लोच, लहजा और प्रवाह वह छोड़ नहीं सकते थे। अतः इन दोनों लेखकों में ही हम जिन्दादिली और मौलिक गद्य-शैली के स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं। किन्तु इन दो लेखकों के बाद शैली की दृष्टि से स्वतन्त्र और उन्मुक्त क्षेत्र में विचरण करने वाले लेखक हैं 'अन्तस्तल' के सिद्ध कलाकार आचार्य चतुरसेन।

चतुरसेनजी ने 'अन्तस्तल' को हिन्दी में अपने ढंग की निराली शैली की रचना कहा है। भूमिका लेखक पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी 'अन्तस्तल' को अपने ढंग की एक नई रचना स्वीकार किया है। जहाँ तक इसकी भाषा शैलीगत नवीनता का सम्बन्ध है, वह इसमें अवश्य देखी जा सकती है। भाव या वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से इस प्रकार के प्रयोग इससे पहले भी हिन्दी में बंगला के प्रभाव से प्रारम्भ हो गये थे। हिन्दी खड़ी बोली गद्य को प्रवाहपूर्ण बनाने और बोलचाल के प्रशस्त राज-पथ पर आरुढ़ करने की दिशा में 'अन्तस्तल' की भाषा ने सबसे अधिक योगदान किया। यों कहिये कि भाषा को ढलवाँ सड़क पर उतार कर सरपट दौड़ने की क्षमता-युक्त बनाया। भावाभिव्यंजन में अकृत्रिम पदावली का जैसा चयन 'अन्तस्तल' के लघु निबन्धों में हुआ है, वैसा प्रेमचन्द को छोड़कर हिन्दी के

किसी अन्य लेखक में ढूँढ़ लेना कठिन है। वैयक्तिकता और आत्मीयता की छाप की दृष्टि से 'अन्तस्तल' बेजोड़ है। माधुर्य और मार्दव दोनों का समवेत प्रभाव देखते ही बनता है। भावों के उत्थान-पतन, विचारों के आलोड़न-विलोड़न, कल्पनाओं के स्वप्निल विविध उभार यदि एकत्र देखने हों तो 'अन्तस्तल' का अनुशीलन करना चाहिए। कल्पना में झुब-कर प्रत्यक्ष व्यवहार की उपेक्षा न करने की सतर्कता 'अन्तस्तल' के प्रायः सभी निबन्धों में है। यही कारण है कि पाठक का इन निबन्धों से पूरी तरह तादात्म्य हो जाता है।

'अनुताप' की स्थिति अन्तस्तल को मर्माहत करके विषण्ण बनाती है। 'भय' का रेखा-चित्र प्रस्तुत करते हुए लेखक ने जो विम्व उतारा है, वह भय से कम भयावह नहीं है। पढ़ते-पढ़ते लगता है कि भय मूर्तमन्त होकर आँखें दिखा रहा है। इसमें हत्या करके मुर्दा ढोने वाले हत्यारे की मनःस्थिति को लेखक ने जीवन्त कर दिया है। भय से अभिभूत हत्यारा इतना भयंकर हो उठा है कि पढ़ने वाले के सामने उसका रक्त-रंजित रूप प्रत्यक्ष-सा दीखने लगता है। 'शोक' का शब्द-चित्र अंकित करने के लिए लेखक ने उस तरुण पिता को माध्यम बनाया है, जिसका पहला वच्चा आठ महीने का होकर स्वर्ग सिंघार जाता है। शोक-संतप्त पिता की पीड़ा संकुल वाणी का हाहाकार व्यक्त करते हुए आचार्यजी लिखते हैं—“आसमान का इतना ऊँचा जीना वह कैसी सरलता से बढ़ गया !”

दारिद्र्य और अभाव की यातना में साँसत सहकर संघर्ष को ललकारने वाले क्रोधाविष्ट मनुष्य का चित्र अंकित करते समय शायद शास्त्रीजी के सामने अपने जीवन की अनुभूतियाँ ही जीवन्त हो उठी थीं। अमीरों की हृदयहीनता को लक्ष्य करके क्रोधी की उक्तियों में जैसी प्रखरता और भीषणता लेखक ने एकत्र की है, वह किसी भी प्रत्यक्षानुभूति से कई गुनी बढ़कर है। निर्धनता के अभिशाप को सहकर कण्ठ उठाने वाले क्रोधी की मार्मिक उक्ति सुनिए—“मेरा वच्चा मर गया, उसे दूध नहीं मिला। मेरी स्त्री के स्तनों में जितना दूध था, वह सब पिला चुकी थी। जब निवट गया तब लाचार हो गई। बाजार से मिला नहीं। पैसा न था, बिना पैसे बाजार में कुछ नहीं मिलता। पहले जब संसार में

बाजार नहीं थे, घर थे, तब सबको सब कुछ मिलता था। चीज के होते कोई तरसता न था। अब खुल गये बाजार और बाजार में उन्हीं को मिलता है जिनका बाजार है, और बाजार है पैसे का। पैसे से ही बाजार है। बच्चा कई दिन सूखे मुँह सूखे स्तन चूसकर सिसकता रहा, अन्त में ठण्डा पड़ गया।”

‘अन्तस्तल’ में भावों के विविध रूप अंकित करते हुए लेखक ने भावों की मौलिक गतिविधि पर दृष्टि रखी है। प्रतिक्रिया से भावों में जिस तरह वेग और प्रखरता आती है वह भी निबन्ध के साथ-साथ बढ़ती जाती है और पाठक का मन उसी भाव में निमज्जित हो जाता है। इन निबन्धों में अनुभूति का व्यवहार पक्ष जितना ज्वलन्त और स्पष्ट है, उतना उस काल की किसी गद्य-काव्य कृति में नहीं हुआ था और उसके बाद भी गद्य-काव्य का नाम धारण करने वाली किसी कृति में लक्षित नहीं हुआ। प्यार, मिलन, शृंगार, संयोग-वियोग आदि कोमल भावों की व्यंजना करने में लेखक आत्मविभोर हो उठा है। उसकी वाणी का स्वर शब्दों के माध्यम से उसकी आत्मानुभूति का ही जीवित शब्दरूप प्रतीत होता है।

आचार्यजी के गद्य-काव्य का दूसरा ओजस्वी रूप उनकी राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत रचनाओं ‘स्वदेश’ और ‘तरलाग्नि’ में है।

‘स्वदेश’ में लेखक ने प्राचीन गौरव के प्रतीक चित्तौड़ और दिल्ली के किले, संस्कृत की प्रतीक गंगा और हिमालय तथा वर्तमान काल के बलिदानों देशभक्त नर-नारियाँ सभी पर लेखक की दृष्टि गई है, और उनके सम्बन्ध में लेखक ने मार्मिक शैली से भावाभिव्यंजन किया है।

‘तरलाग्नि’ लेखक के ओज और वर्चस्व का प्रतिनिधित्व करने वाली राष्ट्रीय रचना है, जिसमें देश-गौरव, देश-प्रीति और देशाभिमान के साथ देश के स्वतन्त्रता संग्राम का काव्य-चित्र खड़ा किया गया है। लेखक के शब्दों में इस गद्य-काव्य में भारतीय राजनीतिक विकास का रेखाचित्र खींचा गया है। पाठक इसे पढ़कर इन रेखाओं में भारत के अतीत का चरित्र देख सकेंगे। इस गद्य-काव्य में भावनाओं का वेग घटनाओं के बीच में से होकर प्रवाहित हुआ है। भारतीय स्वतन्त्रता

संग्राम का वर्णन, जिसका बीजारोपण कांग्रेस के कर्मठ नेताओं द्वारा हुआ था, 'तरलाग्नि' में बड़े समारोहपूर्वक हुआ है। कांग्रेस की बागडोर जब लोकमान्य तिलक के हाथ में आई तो उसमें नवचेतना का संचार हुआ। राष्ट्रीय चेतना का जिस रूप में उस समय उद्बोधन हुआ, उसे लेखक ने सूत्रात्मक शैली से लिखा है—

“आत्मबोधहीन पशु मनुष्यों से डरते हैं।”

“जो मनुष्य से डरे वह नरवीर्य नहीं।”

“जगदीश्वर से पापिष्ठ भय खाते हैं।”

“निर्भय बनो !”

“देश, धर्म और आत्म-विश्वास प्राण देकर भी रक्षणीय है।”

“शक्ति, संगठन और आत्म-विश्वास बाजार में नहीं बिकते।”

“अधिकार माँगने से नहीं मिलते।”

“स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, वह बल से भी और प्राणदान से भी लिया जायगा।”

“अकम्पित रहो, अभय रहो, मरने का अवसर कभी न खोओ, कभी किसी को मत मारो, आत्मनिर्भर रहो, अहिंसा और सत्य तुम्हारा बल है, तकली और चर्खा तुम्हारा शास्त्र है।”

उपर्युक्त सूत्र सन्देशों में उस युग की चेतना को ज्यों का त्यों समा-विष्ट किया गया है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

रीडर—हिन्दी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

विषय-सूची

(१) मग्न

रूप	३	आशा	४४
प्यार	६	घृणा	४८
लज्जा	८	भय	५०
वियोग	११	गर्व	५२
अतृप्ति	१६	अशान्ति	५४
दुःख	१६	कर्मयोग	५७
अनुताप	२१	दया	५६
शोक	२८	वैराग्य	६१
चिन्ता	३२	मृत्यु	६३
लोभ	३५	रुदन	६६
क्रोध	३७	लालसा	६६
निराशा	४२	मुक्ति	७२

(२) वह

वह	७७	शरच्चन्द्र	६०
हास्य में हाहाकर	८१	अपदार्थ	६१
तत्क्षण	८३	वह संध्या	६२
उस दिन	८५	उस दिन	६३
न कहने योग्य	८६	आत्मदान	६४
आंसू	८८	शुभाग्नि	६५

: ख :

पछवा हवा की तरह	६५	जीवन पथ पर	११०
ज्वलन्त सत्य	६६	स्मृति	११०
वह पुष्प	६६	उपहार	१११
अभिलाषा	६७	केवल रात्रि में	१११
निस्तब्धता	६७	अगम्य के प्रति	११२
अतर्क्य लोक में	६८	सूर्यास्त	११२
एक किरण	६९	वह अमावस्या	११३
तुम कहाँ हो	१००	तीव्र मद्य	११३
वसन्त प्रभात	१००	झरोके से	११४
वसन्त	१०२	नेत्रों का प्रकाश	११४
पथिक	१०२	ऊषा	११४
आओ	१०५	धूल	११५
तारों की छाँह	१०६	वह मधुर चितवन	११५
सुखद नींद	१०७	असहनशीलता	११६
प्रत्येक ज्येष्ठ को	१०८	चिताभस्म	११६
वेदना	१०८	जल और रजकण	११७
स्वप्न	१०९	खेल	११७
सिर्फ एक बार हँस कर	१०९		

(३) माँ

माँ	१२१	फूलों की रानी	१२२
आदान-प्रदान	१२१	कहानी	१२३
वार्धक्य विजय	१२२		

(४) स्फुट

प्यार	१२७	पागल	१३०
सुख	१२८	उस पार	१३१

पावस ऋतु	१३२	नीरव रव	१३५
क्षणभंगुर	१३२	स्वप्नदृष्टा	१३७
आँखमिचौनी	१३३	गुह्यतर अपराध	१३७

(५) स्वदेश

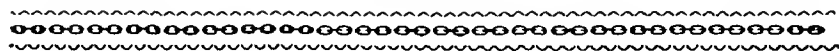
स्वदेश	१४१	वहीं खड़ा रह	१५६
गंगा	१४८	आशा के तार	१५७
चित्तौड़ के किले में	१५४		

(६) अतीत और नव्य भारत

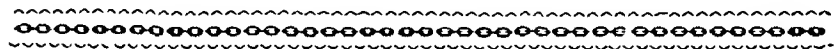
अहमदाबाद	१६६	अथवा अमर हुए	१७५
जगत जाग रहा था	१६३	भारत ने क्या पाया	१७६
भारत सो रहा था	१६४	महाशक्तिशाली अंग्रेज	१७७
यह बूढ़े की नोंद का चमत्कार	१६५	प्राचीन महाराज्यों की	
अब उसकी नोंद खुली	१६६	राजधानी में	१७८
एक पापकामा व्यभिचारिणी		संन्यासी	१७९
ने उसे खरीद लिया	१६७	वहाँ	१८०
हठात् निर्धूमोदय हुआ	१६८	असूर्यपश्या महिलाएँ	१८१
भारत के मस्तक पर		क्षण भर बाद	१८१
शोभायमान हुआ	१६९	डायर	१८२
तब तक	१७०	फिर	१८२
सूरत में	१७०	मसीह	१८३
धनुर्भंग हुआ	१७२	ज्वालामुखी	१८४
फुलरशाह	१७२	अकस्मात्	१८४
किन्तु, महायुग का प्रारम्भ		दुर्घर्य क्षोभ हुआ	१८५
हुआ	१७३	वह तरलाग्नि	१८६
तब भारत ने	१७४	पराई विद्या के बेल	१८६

: घ :

कोकिला	१८७	गुरुदेव	१९८
तेज	१८७	सरदार	१९८
वे बन्द द्वार	१८८	राजर्षि	१९९
आनन्दी बन्दी	१८९	मुसल्लिमान	२००
जो अँग्रेज	१८९	यौवन	२००
उसने उन्हें शैतान कहकर		मुमुक्षु	२०१
पुकारा	१९०	अजातशत्रु	२०१
मैं इस शैतानी सल्तनत का		जवाहर	२०२
नाश करूँगा	१९१	स्फुल्लिंग	२०३
उच्च स्वर से एक पुकार		तदन्तर	२०३
लगाई	१९१	खुला षड्यन्त्र	२०४
सबका एक स्वर था	१९२	भारत में	२०४
अहमदाबाद में	१९३	जो भारत	२०६
उसका यह शुभ्र हास्य उस		फिर किसलिए	२०७
शुभ्र पुरी पर शोभा		जातीयता का अभाव	२०७
बखेर रहा था	१९४	स्वाधीनता और संगठन	२०८
नटवर	१९४	अठाहरवीं शताब्दि में	२०९
मोती	१९५	वन्देमातरम्	२०९
दास	१९६	नव्य भारत	२१०
वह शेर	१९६	ध्रुवध्येय	२११
मसीहा	१९७		



मरुत



रूप

उस रूप की बात मैं क्या कहूँ ? काले वालों की रात फैल रही थी और मुखचन्द्र की चाँदनी छिटक रही थी, उस चाँदनी में वह खुला धरा था । सोने के कलसों में भरा हुआ था, जिनका मुँह खूब कस कर बँध रहा था, फिर भी महक फूट रही थी । उस पर आठ-दस चम्पे की कलियाँ किसी ने डाल दी थीं । भीरे भीतर घुसने की जुगत सोच रहे थे । मदन कमान लिये खड़ा था । उसका सहचर यौवन अलकसाया पड़ा था, न उसे भूख थी न प्यास, छका पड़ा था ।

मैं वड़ा प्यासा था । हार कर आ रहा था । शरीर और मन दोनों चुटीले हो रहे थे, कलेजा उबल रहा था और हृदय झुलस रहा था । मैं अपनी राह जा रहा था । मुझे आशा न थी कि बीच में कुछ मिलेगा । पर मिल गया । संयोग की बात देखो कैसी अद्भुत हुई । और समय होता तो मैं उधर नहीं देखता । मैं क्या भिखारी हूँ या नदीदा हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ ? पर वह अवसर ही ऐसा था, प्यास तड़पा रही थी, गर्मी मार रही थी और अतृप्ति जला रही थी । मैंने कहा—जरा-सा इसमें से मुझे मिलेगा ? भूल गया, कहा कहाँ ? कहने की नौबत ही न आई—कहने की इच्छा मात्र की थी । पर उसीसे काम सिद्ध हो गया । उसने आँचल में छान कर प्याले में उँड़ेला, एक डली मुस्कान की मिश्री मिलाई और कहा—लो । फिर भूला,

कहा-सुना कुछ नहीं। आँचल में छान, प्याले में डालकर, मिश्री मिला कर सामने धर दिया। चम्पे की कलियाँ उसी में पड़ी थीं, सहक फूट रही थी। मैं ऐसी उदासीनता से किसी की वस्तु नहीं लेता हूँ, पर सहक ने मार डाला। आत्मसम्मान, सभ्यता, पद-भर्यादा सब भूल गया। कलेजा जल रहा था, जीभ ऐंठ रही थी। कौन विचार करता ? मैंने दो कदम बढ़ कर उसे उठाया और खड़े ही खड़े पी गया; जी हाँ, खड़े ही खड़े !!

पर प्याले बहुत छोटे थे, बहुत ही छोटे। उनमें कुछ आया नहीं। उस चम्पे और चाँदनी ने जो उसे शीतल किया था और उस मिश्री ने जो उसे मधुरा दिया था, उससे कलेजे में ठण्डक पड़ गई। ऐसी ठण्डक न कभी देखी थी न चखी। इसके बाद मैं मूर्ख की तरह प्याला लिये उसकी ओर देखने लगा। उसने कहा—और लोगे ? मैंने कहा—“बहुत ही प्यासा हूँ, और प्याले बहुत ही छोटे हैं, तिसपर उनमें टूटना निकला हुआ है, इनमें आता ही कितना है; क्या और है ?”

उसने कहा—“बहुत है, पर भीतर है, षड़ों का मुँह खोलना पड़ेगा—क्या बहुत प्यासे हो ?”

सभ्यता भाड़ में गई। कभी खातिरदारी का बोझ किसी पर नहीं रखता था। पराये के सामने सदा संकोच से रहता था, पर उस दिन निर्लज्ज बन गया। मैंने ललचा कर कह ही दिया—“बहुत प्यासा हूँ, क्या ज्यादा तकलीफ होगी ? न हो तो जाने दो, इन प्यालियों में आया ही कितना !”

उसने कहा—“तो चलो घर, मार्ग में खड़े-खड़े क्यों ? पास ही तो घर है।” मैं पीछे हो लिया।

खोलते ही गजब हो गया। लवालब था। गाँठ खोलने का

एक हलका ही सा झटका लगा था, वस छलक कर बह गया ।
समेटे से न सिमटा ।

उसने कहा—पीओ, पीओ, देखते क्या हो ! देखो बहा जाता है—मिट्टी में मिला जाता है ।

मेरे हाथ-पाँव फूल गये । मैंने घबड़ा कर कहा—यह इतना ?
इतना क्या मैं पी सकूँगा ? यह तो बहुत है और क्या छानोगी
नहीं ?

उसने कहा—छानने में क्या धरा है ! यह तो आप ही निर्मल
है । फिर तलछट किसको छोड़ोगे ? पी जाओ सब । इतने बड़े
मर्द हो—क्या इतना नहीं पी सकते ?

मैंने झिझक कर कहा—और मिश्री ? जरा-सी मिश्री नहीं
मिलाओगी ?

उसने हँसकर कहा—मिश्री रहने भी दो, ज्यादा मीठा होने
से सब न पी सकोगे—जी भर जायगा, लो यह नमक-मिर्च, चट-
पटा बना लो—फिर देखना इसका स्वाद !

इतना कहकर उसने जरा यों, और जरा यों, बुरक दिया ।
वह नमक-मिर्च काजल-सा पिसा हुआ था, विजली की तरह
चमक रहा था । उसने स्वयं मिलाया, स्वयं पिलाया । भगवान्
जाने क्या जादू था, फिर जो होश गया है अब तक बेहोश हूँ ।

प्यार

उसने कहा—नहीं ।

मैंने कहा—वाह !

उसने कहा—वाह !

मैंने कहा—हूँ-ऊँ ।

उसने कहा—उहूँक् !

मैंने हँस दिया ।

उसने भी हँस दिया ।

अँधेरा था पर चलचित्रों की भाँति सब दीख पड़ता था । मैं उसी को देख रहा था । जो दीखता था उसे बताना असम्भव है । रक्त की एक-एक बूंद नाच रही थी और प्रत्येक क्षण में सौ-सौ चक्कर खाती थी । हृदय में पूर्णचन्द्र का ज्वार आ रहा था, वह हिलोरो में डूब रहा था; प्रत्येक क्षण में उसकी प्रत्येक तरंग पत्थर की चट्टान बनती थी, और किसी अज्ञात बल से पानी-पानी हो जाती थी । आत्मा की तन्त्री के सारे तार मिले धरे थे, उँगली छुआते ही सब झनझना उठते थे । वायुमण्डल विहाग की मस्ती में झूम रहा था । रात का आँचल खिसल कर अस्तव्यस्त हो गया था । पर्वत नंगे खड़े थे और वृक्ष इशारे कर रहे थे । तारिकाएँ हँस रही थीं । चन्द्रमा बादलों में मुँह छिपाकर कहता था—भई ! हम तो कुछ देखते-भालते हैं नहीं ।

चमेली के वृक्षों पर चमेली के फूल अँधेरे में मुँह भींचे गुप-चुप हँस रहे थे । उन्होंने कहा—जरा इधर तो आओ ।

मैंने कहा—अभी ठहरो ।

वायु ने कहा—हैं ! हैं ! यह क्या करते हो ?

मैंने कहा—दूर हो, भीतर किसके हुक्म से घुस आये तुम ?

खट से द्वार वन्द कर लिया । अब कोई न था । मैंने अघा कर साँस ली । वह साँस छाती में छिप रही । छाती फूल गई । हृदय धड़कने लगा । अब क्या होगा ? मैंने हिम्मत की । पसीना आ गया था । मैंने उसकी पर्वा न की ।

मैंने आगे बढ़कर कहा—जरा इधर आना ।

उसने कहा—नहीं ।

मैंने कहा—वाह !

उसने कहा—वाह !

मैंने कहा—हूँ-ऊँ ।

उसने कहा—उहूँक् ।

मैंने हँस दिया ।

उसने भी हँस दिया ।

लज्जा

हाय हाय ना, यह मुझसे न होगा ! तुम बीबी जी बड़ी बुरी हो, तुम्हीं न जाओ । वाह ! नहीं, तुम मुझे तंग मत करो । मैं तुम्हारे हाथ जोड़ूँ, पैरों पड़ूँ, देखो—हाहा खाऊँ, वस इससे तो हद है ! अच्छा तुम्हें क्या पड़ी है ? तुम जाओ । ठहरो मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ । ना, वहाँ तो नहीं, भला कुछ बात है, इतनी बड़ी हो गई ! समझ नहीं आई । कोई तो है नहीं, अकेले हैं । कोई क्या कहेगा ? तुम्हें कहते लाज भी नहीं आती । हँसती क्यों हो ? देखो यह हँसी अच्छी नहीं लगती । वस कह दिया है—मैं रुठ जाऊँगी । एक बार सुनी, दो बार सुनी । तुम तो हाथ धोकर पीछे ही पड़ गई, अच्छा जाओ आज मैं खाऊँगी नहीं, मुझे भूख नहीं है, मेरे सिर में दर्द है, पेट दुखता है । अपनी ही कहे जाती हो, किसी के सुख-दुःख की भी खबर है ? यह लो—हँसी ही हँसी । इतना क्यों हँसती हो ? हटो, मैं नहीं बोलती । वाह !

मेरी अच्छी बीबी ! बड़ी लाड़ो बीबी जी ! देखो, भला कहीं ऐसा भी होता है ! राम राम । मैं तो लाज से गड़ी जाती हूँ । तुम्हें तो हया न लिहाज । देखो, हाथ जोड़ूँ, धीरे-धीरे तो बोलो—हाय ! धीरे-धीरे । अरे नहीं, गुदगुदी क्यों करती हो ? नोंचो मत जी ! तुम्हें हो क्या गया है ? कोई सुन लेगा । धकेलो मत, देखो मेरे लग गया, पैर का अँगूठा कुचल गया । हाय

मैया ! बड़ी निर्दयी हो, मैं तुम्हें ऐसा न जानती थी । अम्मा जी के जाने से तुम्हारी बन आई । अब मालूम हुआ, भोले चेहरे में ये गुन छिपे पड़े थे ! डर क्या है ? दिन निकलने दो । सब समझ लूंगी । आई चलकर धक्का देने वाली । वाह जी ! हटो... अब तुम मुझे मत छेड़ना, हाय रे ! मेरा अँगूठा ।

न मानोगी ? बड़ी पक्के दीदे की हो । अच्छा, नहीं जाते, नहीं जाते, एक से लाख तक । कह दिया, कर लो क्या करना है । आज सब बदले ले लेना, जन्म-जन्म के वैर चुकाना । आने दो अम्मा जी को । तुम्हारे यह कैसे लच्छन हैं जी ? ना, हमें यह छिछोरपन अच्छा नहीं लगता । राजी-राजी समझती ही नहीं । कुछ वालक हो, वाह जी वाह, सुसराल में जाकर यही लच्छन सीख आई हो । हटो ! मैं तुमसे नहीं बोलती । अच्छा, आखिर मतलब भी कहो ! काम क्या है ? मैं क्यों अनहोनी करूँ ? पानी तुम दे आओ, बुद्धो को भेज दो, मुझ पर ही दण्ड क्यों ?

हद हो गई । यह कैसी हठ है ! न जाऊँगी न जाऊँगी न जाऊँगी, वस कितनी बार कहूँ ? लो मैं रसोई में जा बैठती हूँ, नाक में दम कर दिया, चैन नहीं लेने देती ।

हाय करम ! भगवान् ने कैसे दुःख दिये । देखो मेरा जी अच्छा नहीं है । नहीं तो मैं इतना हठ न करती, तुम्हारी बात क्या कभी टाली है ? आओ चलो तुम्हारी कोठरी में चलकर मजे से सोयें । खूब गर्माई रहेगी ।

क्यों ? इसमें क्या हर्ज है ? इसी तरह क्या रोज नहीं सोते थे ? आज ही मक्खी ने छींक दिया ? चलो, नखरे मत करो । अच्छा देखो—आज तुम मेरी बात मान लो, कल जैसा तुम

कहोगी मान लूंगी, वस अब तो रांजी ! चलो उठो उठो ! अब नखरे मत करो । मेरी बीबी जी बड़ी अच्छी हैं ।

हे भगवान् ! हे जगदीश ! हे परब्रह्म ! यह आज कैसा संकट आया । हे मुकुन्द मुरारी ! किसी तरह लाज बचाओ । बुरी फँसी । हाय करम ! अच्छा चलो तुम भी साथ चलो, तुम्हें मैं छोड़ने वाली नहीं हूँ । चलो, तुमने मेरा बहुत नाम में दम किया है । ना, कितना ही मचलो—छोड़ूंगी नहीं । बनाओ, वहाने बनाओ । अब मेरी बारी है ।

हर बात में तुम्हारी ही चलेगी ? मैं कुछ हूँ ही नहीं तो तुम्हें बाध खा लेंगे ? जाने दो फिर, मैं भी नहीं जाती । हरे राम ! इस दुःख से मौत ही अच्छी ! अच्छा ! पर देखो बाहर खड़ी रहना । देखो तुम्हें मेरी कसम ! हाय ! हाय ! यह क्या कर रही हो । अच्छा आगे-आगे चलो ! अरे धीरे ! धीरे ! घोड़ी सी क्यों दौड़ रही हो ? बड़ी नटखट हो । देखो तुम्हारे पैरों पड़ूँ, खड़ी रहना । नहीं तो याद रखना मुझसे बुरा कोई नहीं । भला, तुम्हें मेरी कसम ।

वियोग

वे मुझे महाशय कहकर पुकारते थे और मैं उन्हें हरीश कहा करता था। उनका पूरा नाम तो हरिश्चन्द्र था, पर मैं प्यार से उन्हें हरीश कहा करता था। बचपन से जबकि वे नंगे होकर नहाया करते—तब तक, जब तक कि वे बड़े भारी इञ्जीनियर हुए मैंने बराबर उन्हें इसी नाम से पुकारा। इञ्जीनियर होने के ६ दिन बाद ही तो वे मर गये !

बहुत दिन बीत गये हैं धुँधली सी याद है। मैं अपने घर के पिछवाड़े गेंद-बल्ला खेल रहा था। रुई की गेंद थी और बाँस का बल्ला। उन्होंने गली के छोर से आकर गेंद लपक ली। हरा कोट पहने थे और सिर पर सलमें की टोपी थी। छोटा-सा मुँह था और सुनहले बाल कन्धे पर लहरा रहे थे। उम्र कितनी थी सो नहीं बता सकता, जिस बात को समझने का ज्ञान नहीं था—आवश्यकता भी नहीं थी, अब वह कैसे आद आ सकती है ? वे मेरे आँखों में गड़ गये। मैंने आगे बढ़ कर कहा—“तुम खेलोगे ?” उन्होंने कहा—“खिलाओगे ?” मैंने खिला लिया। वही पहला दिन था। इस जन्म में वही पहली मुलाकात थी। उसी दिन से हम एक हुए।

मुहल्ले में उनका घर था। पर वे उस में कभी रहे नहीं थे। उनके पिता विदेश में नौकरी करते थे। उन्हीं के साथ वे भी

वहीं रहते थे। अब वे वहीं स्कूल में भर्ती हुए, मैं फेल होकर एक साल पीछे आ रहा। हम लोग एक साथ पढ़ने लगे। एक श्रेणी में बैठने लगे। कैसे सुन्दर वे दिन थे, यह कहना असम्भव है। दोनों एक बेंच पर बैठते थे। उनका हिसाब अच्छा था। मैं उसमें कमजोर था। वे स्लेट मेरी ओर झुका देते थे। मैं मास्टर की नजर बचा उनकी नकल कर लेता था। उसके बदले में कुछ चित्र और कविताएँ मुझे उन्हें तैयार कर देनी पड़ती थीं। इनका मुझे शौक था और उन्हें चाव। एक के अपराध पर दूसरा पिट लेता तो मानो खजाना पा लिया। घण्टों पहले स्कूल में जा बैठते थे। बातों का तार कभी नहीं टूटता था। रोग तो देखा नहीं था, चिन्ता से तब तक व्याह नहीं हुआ था, शोक का अभी जन्म ही नहीं हुआ था। मौज थी, उछाह था, प्रेम था। हम दोनों उसे खूब खाते थे और वखरते थे।

मुझे रोज एक पैसा पिताजी देते थे। अठवाड़े के पैसे इकट्ठे करके मैं उनकी दावत करता था। जङ्गल के एकान्त में, चाँदनी की चमक में, हम लोग एक दूसरे को देखा करते थे। अब कुछ याद नहीं आ रहा, क्या-क्या बातें होती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि कांग्रेस में और बड़ी कौन्सिल में व्याख्यान देकर, बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं से मुलाकात करके जो गर्व, जो प्रसन्नता आज नहीं मिलती, वह उस बातचीत में मिलती थी। जिस दिन वह बात न होती थी, उस दिन नींद नहीं आती थी, भोजन न रुचता था। छुट्टी का दिन बुरा दिन था। गर्मी की छुट्टियाँ तो काल थीं। उसमें वे पिता के पास चले जाया करते थे। दो महीने का त्रियोग होता था।

जब वे ज्यादा लाड़ में आते तो 'तू तू' करके बोलते थे। और

भी ज्यादा प्यार करते तो घूसों से घड़ते थे। मैं उन्हें कभी न मारता था, उनकी माता पर फरियाद करता था, वे उन्हें धमका कर कहती थीं—पगले ! बड़े भाई से इस तरह बोला करते हैं, ऐसा गधापन किया करते हैं !

तब वे अपनी माँ को इतराकर जवाब देते—अम्मा ! तेरा बेटा बड़ा बदमाश हो गया है, यह बिना पिटे ठीक न होगा।

बुढ़िया झुंझला कर वहाँ से बड़बड़ाती उठ जाती थी, हम लोग खिलखिलाते, ही ही, हू हू करते, धमर-कुटाई करते, अपने रास्ते लगते थे।

कितनी चाँदनी रातें गंगा के उपकूल पर बिताई हैं। कितने प्रभातों की गुलाबी हवा में हमने एक साथ स्वर मिला कर गाया है, दो पहर की चमकीली धूप में स्वच्छन्द विहार किया है। वर्षा ऋतु में हम जङ्गल में निकल जाते, माधोदास के वाग से एक टोकरा आम भर ले जाते और नहर में जल-विहार करते, आम चूसते, गुठलियों की चाँदमारी करते। गर्मी के दिनों में प्रातःकाल ही खेत पर आ बैठते और ताजे-ताजे खर्बूजे खाते। वे प्रायः कहा करते—“तुम मुझसे इतना प्रेम मत बढ़ाओ, मुझे डर लगता है—तुम नाराज हो गये तो मैं कैसे जीऊँगा।”

कभी वे मेरे हाल को देखकर कहते—“महाशय ! तेरी उम्र की रेखा तो बहुत ही छोटी है।”

मैं देखकर कहता—“अच्छा, मैं मर जाऊँगा तो तू रोएगा तो नहीं ?”

वे बड़ी देर सोचकर कहते, “रोऊँगा तो जरूर।”

इसके बाद वे कुछ और कहना चाहते थे, पर मैं समझ जाता था—मुँह भींच देता था, बोलने देता ही न था।

हम लोग कभी झूठ न बोलते थे, कभी छल न करते थे। पर हाँ, लड़कभी-कभी पड़ते थे। पर वह लड़ाई बड़े मजे की होती थी। उसमें जो हार मान लेता था—उसी की जीत होती थी और उसी की खुशामद होती थी। जीतने वाले को उसे जङ्गल में या छत पर ले जाकर गले में बाँह डाल कर मिठाई खिलाती पड़ती थी। कभी-कभी बड़ा-सा गुलाबजामुन मुँह में ठूस देना पड़ता था। और कभी-कभी ? हाँ, उसे भी अब न छिपाऊँगा, वही गुलाबजामुन आधा उनके मुँह में देकर आधा दाँतों से कुतर लेता पड़ता था। हम दोनों एक थे। हममें एक प्राण था, एक रस था, एक दिल था, एक जान थी।

पर यह देर तक रहा नहीं। हृदय से भीतर न रहा गया। वह हवा खाने बाहर निकला। कुछ काम-काज का भार भी उस पर पड़ा। बस हवा बह चली, तार टूट गया। मोती बिखर गये। बुद्धि बढ़ गई। अपने को पहचानने लगे। पाजी ज्ञान ने कान भर दिये। डायन बुद्धि ने वहका दिया। हमने अपनी-अपनी ओर को देखे। अपनी-अपनी सुध ली। उसी क्षण से परस्पर तो देखना कम हुआ, परस्पर की सुध लेने की सुध ढीली पड़ गई। वही ढील कहाँ की कहाँ ले गई ? न पूछो, कथा का यह भाग बहुत ही कड़ुआ है !

हम लोग अपने-अपने रास्ते लगे। अब चिट्ठियों का तार बचा था, वही केवल पुल था। पहली चिट्ठी पूरे १५ दिन में मिली थी। गुलाबी लिफाफा था, वह फट कर चूर-चूर हो गया है, पर अब तक सहेज रक्खा है। स्वप्न में भी न सोचा था कि उसकी उम्र उनसे भी बड़ी होगी। कैसा सुन्दर वह पत्र था।

सरल-तरल प्रेम की वह वस्तु आज तक जीवन को जीवन देती है। फिर तो कितने पत्र आये और गये।

तीन साल तक पत्र-व्यवहार बन्द रहा। पर समाचार मिलते रहे। दोपहर का समय था। मैं भोजन के आसन पर जाकर बैठा। मेरी स्त्री थाली परस रही थी। एक कार्ड मिला। उसमें उनका मृत्यु समाचार था। मैं मरता तो क्या ! न रोया, न बोला, न भोजन छोड़ा। चुपचाप भोजन करने लगा। उठकर बैठक में लेट गया। रोना फिर भी न आया। बहुत इरादा किया पर व्यर्थ। हार कर सो गया।

पर अब ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे हैं, बात पुरानी हो रही है, मैं रोता हूँ। जब अकेला होता हूँ तब रोता हूँ। जब कोई दुःख देता है तब रोता हूँ। जब कोई धोखा देता है, अपमान करता है तब रोता हूँ। जब कोई चिन्ता होती है तब रोता हूँ। जब कोई बात हँसी की देखता हूँ तो रोता हूँ। किसी बालक को हरा कोट पहने देखता हूँ तो रोता हूँ। कहीं ब्याह होते देखता हूँ तो रोता हूँ। मेरे जीवन के प्रत्येक दैनिक कार्य इसी योग्य हो गये हैं कि बिना रोये उसमें स्वाद ही नहीं आता। हजार जगह रोता हूँ, जन्म भर रोऊँगा।

कभी-कभी उन्हें स्वप्न में देखता हूँ, वही स्कूल की पुस्तकों का ढण्डल ढगल में, वही खिलवाड़ की बातें, वही ऊधम, वही ही-ही हा-हा, वही धौलधप सब होता है, हूबहू मालूम होता है ! पर ! पर आँख खोलकर देखता हूँ तो मालूम होता है—वह सब स्वप्न है। वे दिन बीत गये हैं। अब मैं बड़ा हो गया हूँ, जवान हो गया हूँ और अकेला रह गया हूँ। और ? और वे मर गये हैं—पृथ्वी पर हैं ही नहीं !

अवृत्ति

हृदय ! अब तुम क्या करोगे ? तुम जिसके लिए इतना सज-धज कर बैठे थे उसका तो जवाब आ गया । जन्म से लेकर आज तक जो तुमने सीखा था, जिसका अभ्यास किया था, उसकी तो अब जरूरत ही नहीं रही । न जाने तुम्हारा कैसा स्वभाव था । तुम सब कुछ फिर के लिए उठा रखते थे । तुमने तृप्त होकर भी उससे बात नहीं करने दी । आँख भर कर कभी उसे देखने नहीं दिया । मन भर कभी प्यार नहीं करने दिया । तुम यह सब काम फिर के लिए उठा रखते थे । तुम कहते थे डर क्या है ? कोई गैर तो है ही नहीं, अपनी ही वस्तु है । फिर देखा जायगा । अब कहो—अब भी फिर देखने की आशा करते हो ?

तुम वर्तमान को कुछ समझते ही न थे । तुम उसे स्वप्न कह कर पुकारते थे । कभी-कभी उसे छाया कहकर उसका तिरस्कार करते थे । मैं तुम्हें कितना समझाता था—वर्तमान से लाभ उठाओ, वर्तमान दौड़ा जा रहा है । इसे पकड़ लो । पर तुम आलसी की तरह नित्य यही कहते थे—जाने भी दो, वह भविष्य आता है । वही पका हुआ सुख है, वही अनन्त है । यह वर्तमान तो मुसाफिर की तरह भाग-दौड़ में है । इसमें कितना सुख भोगा जाय ? आने दो भविष्य के धवल महल को । वहाँ तृप्त होकर पीयेंगे और जी भर कर सोयेंगे । लो अब बताओ कहाँ हैं

प्रट्टालिकाएँ ? वह धवल महल ? मैं बहुत भूखा हूँ, प्यासा थका हुआ हूँ। मैं अब चलकर रस पीऊँगा और जरा सोऊँगा।

क्यों ? सुस्त क्यों हो गये ? ठण्डे क्यों पड़ गये ? चुप क्यों गये ? वोलो न, मेरा जी घबड़ा रहा है। तुम्हें देखकर बेचैनी रही है। सच कहो, मामला क्या है ? तुम्हारे विश्वास पर, न्हारी बातों में आकर मैंने अपने जन्म-जन्मान्तरों की पूँजी गा दी थी। तुम्हारी योग्यता पर मुझे भरोसा था। मैंने तुम्हें खा-भाला नहीं, कुछ खोज-जाँच नहीं की। तुमने जो कहा, खि-कान वन्द करके मान लिया। अब बताओ क्या करूँ ? न व तुम्हारा कहना टाला था, न अब टालूँगा।

बताओ न ! अब क्या करूँ ? चुप क्यों हो ? स्तब्ध क्यों ठि हो ? क्या सब समाप्त हो गया ? मैं अब कहीं का न रहा ! वोलो न, इस तरह चुपचाप आह भरने से तो न चलेगा।

वे दिन अब भी आद हैं। मानो वही दृश्य, वही समय, वही छटा, वही सब-कुछ आँखों में फिर रहा है। पर आँखों के सामने कुछ नहीं है। हाय ! कैसी वह नदी थी, कैसा उस पर स्वच्छ चन्द्र और नीला आकाश चमक रहा था, कैसा उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ रहा था, कैसी उसके तट के श्याम छाया रूप वृक्ष और लताएँ झुक-झुक कर पंखा कर रही थीं। और तुम मुझे कुछ भी पेट भरके देखने नहीं देते थे। जब मैं चन्द्र को देखता था, तब तुम कहते—नहीं, पहले इस जल की छटा को देखो। जब मैं उसे देखता था, तब तुम कहते—नहीं, पहले इस निकुंज छाया को देखो। मैं जब उसे देखता, तब तुम कहते—नहीं, पहले इस छपछप शब्द को सुनो। फिर तुम मेरी आँखें वन्द कर देते

थे । मुझसे तुम्हें क्या जलन थी ? सुख से तुम्हें क्या चिढ़ थी ?
तृप्ति से तुम्हें क्या द्वेष था ?

तुम्हारी वह कुलबुलाहट...चुलबुलाहट...कहाँ गई ? अब
क्यों इस तरह सुस्त सिर नीचा किये बैठे हो । मेरे सर्वनाशकारी
वंचक ! मैं तुम्हें दया करके छोड़ूँगा नहीं ।

किसी की भी नहीं सुनते थे, ऐसे धुन के अन्धे हो गये थे ।
हंसी रुकती ही न थी, चैन पड़ता ही नहीं था । इतना रोका था,
धमकाया था, फटकारा था । पर सब चिकने घड़े पर पानी की
तरह ढल गया ! लो अब बैठे-बैठे रोओ ।

दुःख

यह असम्भव है। मैं आपसे ब्याह नहीं कर सकती। मैं बहुत दुःखी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। मैं भीतर ही भीतर रोगिणी हो रही हूँ। डाक्टर ने कहा है कि तुम $\times \times \times$ नहीं नहीं, मैं वह बात आपको अपने मुँह से नहीं सुनाऊँगी। आप मेरा मोह त्याग दीजिए। भूल जाइए। यह कठिन है, पर अभ्यास बड़ी वस्तु है। मैंने अभ्यास किया है, आप भी कीजिए। हम लोग बहुत देर में मिले। समय बीत चुका था। सुख और शान्ति मेरे भाग्य में नहीं थी। क्यों मेरा बूढ़े से ब्याह होता और क्यों मैं सुहाग की रात को विधवा होती। मैं इतना भी सहती—बहुत स्त्रियाँ सहती हैं। पर आप क्यों मिल गये ! यही कठिन हुआ। यही नहीं सहा जाता। आग जल रही है। जी जला जाता है—पर धैर्य और अभ्यास से वश में करूँगी। यह सच है कि सुख में प्रलोभन है, पर मैंने उसे चखना एक ओर रखा—छू कर भी नहीं देखा। यही खैर हुई। वरना क्या होता ! आज क्या यह पत्र लिख सकती ? मन इतना साहस कहाँ पाता ? आँसू आ रहे हैं, शरीर का रक्त मस्तक में इकट्ठा हो रहा है और नसों की तन्वी झनझना रही है। रह-रह कर मन में आता है, इस पत्र को फाड़ दूँ। पर यह असम्भव है। इतनी हिम्मत से—इतने साहस से—

इतनी वीरता से जो पत्र लिखा है, उसे फाड़ूंगी नहीं। क्या आप इसका मूल्य समझेंगे ?

मैं समझती हूँ इस पत्र को पढ़ कर आपको वेदना होगी। पर क्या किया जाय ! उसे सह लीजियेगा—मेरी ओर देख कर सह लीजियेगा। मैं अवला स्त्री हूँ। मुझमें दम ही कितनी है ! वचपन में पशु-पक्षियों को चार दाने डालकर मुझे कितना गर्व होता था ! मैं कितनी इतराती थी ! यहीं तक मैं दुनिया में किसी को सुख दे सकी। मेरी सेवा का पृथ्वी पर यही उपयोग हुआ। मेरा मानव-जीवन धिक्कार हुआ। पर मुझे यह कभी न मालूम था कि ऐसा उत्तरदायित्व भी तुच्छ स्त्रियों पर आ जाता है। अनेकों की रक्षा में समर्थ आप ? आपका सुख-दुःख मेरे हाथ में ? नहीं नहीं, मुझे इतना न दवाइए। इतना बोझ सहने की शक्ति मुझमें नहीं है। मूर्खा अवला में और कितना बल होगा ? आप कहें—तो मैं आपका नाम लेकर गङ्गा में डूब मरूँ, या नाम जप-जप कर भूखी-प्यासी मर जाऊँ। जरूरत हो तो चमड़ी की जूती बनवा लीजिए। मोल बेच दीजिए। पर ! पर मुझसे सुख मत माँगिए, मुझसे सहयोग न होगा। सुख एक तो मेरे पास है ही नहीं—दूसरे, जो है भी वह जूठा, ठण्डा और किरकिरा है—आपके योग्य नहीं है। आप इधर से ध्यान हटा लें।

मैं अपने भाग्य पर फिर हाथ करती हूँ। कोई चारा नहीं, कोई बस नहीं, कोई उपाय नहीं। मैं जानती हूँ, आप स्वभाव से ही दीन-दुखियों को प्यार करते हैं, आप धन्य हैं। मैं भी आपको प्यार करती, पर क्या करूँ प्यार में तो चाहना है और चाहना करने का अधिकार मुझसे निरपराध छीन लिया गया है।

अनुताप

किसी को मुँह नहीं दिखाता हूँ, पर लज्जा फिर भी पीछा नहीं छोड़ती है। छिप कर रहता हूँ, पर मन में शान्ति नहीं है। दिन-रात भूलने की चेष्टा करने पर भी स्मृति की गम्भीर रेखा मिटती ही नहीं है, हृत्पटल पर उसका घाव हो गया है। उधर ध्यान पहुँचते ही वह घाव कसक उठता है। मन की ज्वाला साँस के साथ भड़क उठती है। आँसुओं की अविरल धारा सूख गई—पर उसे न बुझा सकी। साँस की धोंकनी से वह भड़कती है। चाह मर गई और आशा की जड़ को कीड़ा खा गया है। रक्त ठण्डा पड़ गया, जीवन का पता नहीं—क्या इरादा रखता है। भविष्य की रात घोर अँधेरी है, उसमें एक तारा भी नजर नहीं आता। वर्तमान अत्यन्त क्षणिक है, पर उसके रोम-रोम में विकलता है। मन जैसे सूख गया है और मैं जैसे खो गया हूँ।

उस दिन के बाद ही सोचा था—वस, अव सँभल गया, अव तक ठगाया गया हूँ, अव न ठगाया जाऊँगा। काम का त्याग कर दूँगा, वासना को धक्का दे डालूँगा, चाह का गला घोंट दूँगा, हृदय को फाँसी लगा लूँगा, और चुपचाप निश्चेष्ट भाव से मृत्यु के दिन की वाट देखूँगा। किन्तु यह सब कुछ तो किया, कर्म भी त्यागा, वासना को धक्का दिया, चाह का भी गला घोंटा, हृदय को फाँसी लगाई, पर चुपचाप निश्चेष्ट भाव से मृत्यु के दिन की वाट न

जोह सका । इन सब के साथ स्मृति को भी यदि संखिया दे सकता तो यह सब सफल होता । अब सब बनने पर भी स्मृति बीच में आकर काम बिगाड़ देती है । वह मेरी उजाड़ और ठण्डी शान्ति में आग लगा देती है । मैं चुपचाप निश्चेष्ट मन से मरने के दिन पूरे नहीं कर पाता हूँ ।

वह दिन मुझे याद है—अच्छी तरह याद है, उस दिन मेह वरस रहा था—पर मूसलाधार पानी न था । रिमझिम वर्षा थी । उस दिन, हाँ उसी दिन उसने मुझे देखा या मैंने उसे देखा, कुछ याद नहीं । शायद दोनों ने दोनों को देखा । उस देखने ही में विष था, पर हमने उसे अमृत समझा । हाँ, दोनों ने अमृत समझा । भूल हुई । उसी दिन हम मर गये थे, पर समझा जी गये हैं । उसी दिन धोखे में हम दोनों मुस्कराये थे ! आह ! मूर्खता !

वह कुछ बोली नहीं । लजा कर चली गई । मैंने मन में कहा—कैसी अपूर्व है, कैसी अलौकिक है । तब मैं निर्लज्ज की तरह उसकी ओर देखता ही रहा । उसने मेरी निर्लज्जता देखी नहीं, जाने के बाद उसने पीछे फिर कर देखा ही न था । मुझे उस ओर ध्यान न था । जाती वार जो वह मुस्कराहट बखेर गई थी, उसी पर मैंने आँखें बिछा दीं ।

उसके बाद क्या हुआ था ? ठहरो, सोचता हूँ—हाँ उसके बाद एक दिन पान का बीड़ा देने आई थी । वह बीड़ा अभी तक मेरे बक्स में रक्खा है । तब खाया नहीं था । उस समय मैंने उसे प्रिय चिह्न समझ कर रख लिया था । यह सोचा भी न था कि यह मेरा चिरसहचर होगा । कदाचित् वह मेरा भविष्य फल था, अथवा इतिहास था । क्योंकि जब वह मेरे हाथ में आया था—हरा-भरा और रसपूर्ण था । सुगन्ध की लपटें आ रही थीं । किन्तु

ज्यों-ज्यों उसका रस सूखता गया, त्यों-त्यों उसमें मेरी समता होती गई। आज उसमें रसगन्ध नहीं है, विल्कुल सूखा पत्ता है। मैं भी रसगन्धहीन सूखा—विल्कुल सूखा पत्ता हूँ। मेरे जीवन में और उस पान में यह समता होगी, इसका मुझे कुछ भी आभास नहीं था—उसे भी नहीं था।

उसके पति पर मैं सदा से नाराज था। वह मेरा मूर्ख चपरासी था। किन्तु भोला, सच्चा और हँसमुख। मेरी झिड़की को हँस कर सह लेता और हाथ जोड़ कर क्षमा माँगता था। इसी से वह निभ रहा था। पर उसी वदली के दिन से उसके दिन फिरे। उस पर मेरी कृपादृष्टि उमड़ आई। मैंने अपनी स्त्री के द्वारा सुना कि वह इस भाग्यपरिवर्तन का कारण अपनी स्त्री को समझता है ! बात सच थी, मैं लज्जा से धरती में गड़ गया। पर असल बात और थी—वह पीछे खुली; उसका यह विश्वास था कि मेरी स्त्री बड़ी भाग्यवान् है; उसके गौना होकर घर में आते ही मालिक की कृपादृष्टि और वेतनवृद्धि हुई, वह उसे लक्ष्मी के नाम से पुकारने लगा था। पहले उसके विचार पर आश्चर्य हुआ था, पर अब उसका कोई कारण न रहा।

वह बुढ़िया, ओफ, उसका स्मरण आते ही दम घुटने लगता है, भुदत से मेरे पास आती थी। कभी पैसा माँगने और कभी पुराना कपड़ा माँगने। वह मुझे बड़े मीठे स्वर से 'बेटा' कह कर पुकारती थी, पर मेरे हृदय में उसके लिए कभी मातृभाव उदय नहीं हुआ। उसकी सूरत ही ऐसी थी। छोटी-छोटी साँप जैसी आँखें, सिकुड़े हुए अपवित्र होंठ और विल्ली जैसी चाल—मुझे भाती न थी ! मैं सदा उससे दूर भागता था। फटकारता, गाली देता, पर वह अपनी लल्लो-पत्तो नहीं छोड़ती थी। उस दिन उसके

वाद ही वह आई थी। वह प्यार की पुतली थी और यह घृणा की डायन, दोनों में कुछ भी तारतम्य न था। पर मेरी बुद्धि चैतन्य हुई या मलिन, कुछ नहीं कह सकता—मैंने तारतम्य निकाल लिया। ठीक कीचड़ और कमल के समान। उस दिन मैं उसे देख कर मुस्कराया, एक चवन्नी बखसीस दी। उसने अपनी मनहूस आँखों की धुन्ध पोंछ कर एक बार चवन्नी की ओर और एक बार मेरे मुस्कराने की ओर देखा। मैंने उसे पास बिठाया, बहुत सी बातें कहीं, नहीं-नहीं उन्हें चेष्टा करके भुलाया है। अब याद नहीं करूँगा। उन बातों की परछाई, ठीक अँधेरे में दीये की लौ की तरह आज भी मेरे मनोमन्दिर में काँप रही है। उसी के द्वारा सब कुछ हुआ, उसी छुरी से मैंने सेंध लगाई। उसी के हाथों मैंने वह छकड़ा भरा रूप, मनो यौवन खरीदा। चोरी का माल था—सस्ता ही मिला। कुछ मिठाई के दौने, कुछ सुगन्धित तेल, कुछ साधारण वस्त्र, वस !

उस दिन जब उसने आत्मसमर्पण किया था—वह मदमाती थी—पर उसकी आँखों में आँसू थे। वह पाप से डर रही थी। थर-थर काँपती थी। प्रलोभन बहुत ही भारी था। वह जीत न सकी, हार गई। उसकी चाह में ग्लानि मिली थी। हर्ष में भय था, विष था। कलेजा धड़क रहा था और वदन काँप रहा था।

जै तरह प्रेम और अधिकार की प्रतीक्षा में बैठी रही। वह मुझे देल से चाहती थी, यह बात तब भी मालूम थी—पर तब इस बात का मन ने मूल्य नहीं लगाया था।

उस दिन त्रयोदशी थी। ठीक याद है, फाँसी की तारीख की तरह। वह भविष्य होती है—यह भूत थी। कोई ६ वजे होंगे। मन्द वायु वह रही थी। रात दूध में नहा रही थी। आकाश हँस रहा था। वह मेरे भेजे हुए फूलों के गजरे पहिन कर आई। चाँदनी ने उसके मुख को और भी उज्ज्वल कर दिया था। मैं उसकी ओर देख रहा था और वह भय से चारों ओर देख रही थी। उसका स्वामी तब भी मेरा नौकर था।

उस समय मैं प्रेम का कङ्काल नहीं था। मेरे घर में प्रेम सरोवर लहरें मार रहा था। वह प्रेम नहीं, पाप था। तब मैंने पाप की परवाह न की। मैंने उसे देख कर भी न देखा। उस समय उसे देखे बिना कल नहीं पड़ती थी। आज उसे सोचकर काँप उठता हूँ।

जब वह गर्मागर्म थाल मेरे भोग में था, तब एक दिन उसके पति से कुछ उसका जिक्र किया था। शायद याद नहीं—उसने क्या कहा था, पर भाषा उसकी गँवारू और अलंकारशून्य थी। फिर भी उसमें उत्कट स्त्रीव्रत और स्त्रीप्रेम का वर्णन था। इतना मुझे याद है कि अपनी स्त्री का जिक्र करते-करते उत्फुल्लता के मारे उसकी आँखों में आँसू आ गये थे। मुझे इस बात के प्रारम्भ में जो सुख मिला, वह तत्क्षण ही विलीन हो गया। उसी दिन मैंने अपने को तुच्छ समझा, उसी दिन मन में अनुताप का बीज उगा। उसके बाद ? उसके बाद ही उसने मुझे पहचाना। प्रथम उसने मोन कोप किया, पीछे अवज्ञा की, तदनन्तर गुस्ताखी की और

अन्त में उसने सामना किया । निदान मैंने अपनी क्षमता से काम लिया—मैंने उसे तिरस्कृत करके निकलवा दिया । हाय !!

अब कुछ कण्टक नहीं था । लोकलज्जा भी नहीं थी । आँख फूट चुकी थी । मैं दोनों हाथों से खाने लगा । पर सब खाया नहीं गया । बहुत था । जितना पेट में समाया खाया । बाकी ? जिस तरह वच्चे आवश्यकता से अधिक पाकर—पेट भरने पर इधर-उधर वखेर देते हैं—उसी तरह—वह रूप—वह यौवन—मैंने भी वखेर दिया ।

घर में रखने को जगह न थी । वह मुद्दत तक ठोकरी में पड़ रहा । उससे रुचि हट गई । उस पर मक्खियाँ भिनकने लगीं । मैंने उसे, हाँ हाँ—उसे, उठवा कर बाहर फिकवा दिया ! ओफ !!!

फिर बीच में भेट नहीं हुई । केवल मरने से प्रथम मैं उसे उसका सन्देश पाकर देखने गया था । वह खानगी वेश्याओं के मोहल्ले में—नीचे के खन में—एक सील और दुर्गन्धभरी कोठरी में पड़ी थी । शरीर मलमूत्र में लथपथ हो रहा था । कोने में एक मिट्टी का घड़ा लुढ़क रहा था, भीतर उसमें पानी था, और ऊपर ओग बह रहे थे । गूदड़े गीले और मिट्टी जैसे थे । उसका शरीर जल रहा था, उस पर ओढ़ना नहीं था । घर में नरक का वास था । मैं नाक दबा कर मन मार कर उसके पास गया । उसने मेरी ओर से मुँह फेर लिया, बोली नहीं । मैं कुछ न कह सका । मैंने थोड़ा पानी लेकर उसे पिलाना चाहा, पर उसने सतेज स्वर में कहा—“पापी विश्वासघाती छलिया हट, परे हो, काला मुँह कर, मैं तेरे हाथ का पानी नहीं पीऊँगी ।” मैं कुछ भी न कर सका—मर भी न सका । वह मर गई ।

उसके बाद ? उसी महीने में मेरे घर का दिया बुझ गया । जिस दिन मेरा बच्चा मुझे मिला—उसी दिन मेरी स्त्री चल बसी । मैंने रात भर जाग कर, रोकर, बच्चे को जीवित रक्खा ।

एक दिन मैं बैठा अपने बच्चे को खिला रहा था । एक आदमी आया । उसकी सूरत भूत जैसी थी । दाढ़ी के बाल बढ़कर उलझ गये थे । आँखों में कीचड़ भर रही थी और मुख में लार टपक रही थी । शरीर पर वस्त्र नहीं था, केवल एक चिथड़ा था । लड़के पीछे धूल फेंक-फेंक कर हटला मचा रहे थे । वह मेरे पास आकर घूरने लगा, बच्चा डर कर मेरी छाती से चिपक गया । मैंने उस पागल को फटकारा । वह मेरी ओर देख कर कुछ बड़बड़ाया । मैंने उसे पहिचान लिया । कलेजा धक हो गया, रक्त की गति रुक गई । मैंने कुछ पैसे उसकी ओर फेंक दिये और उससे कहा—जाओ जाओ !

पैसे लेकर उसने लड़कों को लुटा दिये और फिर मेरे बच्चे को घूर-घूर कर बड़बड़ाने लगा । बच्चा रो उठा, मैं भीतर चला आया । मेरे घर तब कोई नौकर न था । उसी रात को बच्चा रोगी हुआ और उसके तीन दिन बाद वह भी ठण्डा हो गया । मरती बार वह भी मुस्कराया था ।

मैंने घर-वार—देश सब त्याग दिया है, पर जिस स्मृति को त्यागना चाहता हूँ, उसे किसी तरह नहीं त्याग सकता हूँ—किसी तरह नहीं त्याग सकता हूँ !

शोक

यह मेरा पहला ही वच्चा था । जब यह उत्पन्न हुआ तब मेरी अवस्था २३ वर्ष की और मेरी स्त्री की १७ व थी । प्रातःकाल ज्योंही ऊषा की पहली किरण पृथ्वी पर त्योंही विदुआ का अवतरण हुआ । उस रात भर मैं सोया था । नई बात थी, नया उछाह था, नया सुख था । मैं दौड़ के घर, दौड़ सौर गृह में, दौड़ बैठक में फिर रहा था । काम न था । पर बिना दौड़-धूप किये जी न मानता था । जब मैंने आकर कहा कि “बखशीश लाओ, बेटा हुआ,” तो मेरे शरीर में खून की गति रुक गई थी—मैं उसे एकटक देखता ही रह गया था । मैंने हारकर उसी से पूछा था—बोल क्या लेगी ? अमाता ने आकर अपना कंगन उसे दे डाला था ।

उस घटना को आज पूरे सात महीने तेरह दिन हुए हैं । आ मैंने उसे धरती में गाड़ दिया । मेरे साथ मेरे और दो-तीन वच्चे थे । सबने जी-जान से सहायता दी । एक ने गड्ढा खोदा, एक ने उस में से मिट्टी निकाली, एक ने मेरे लाल को उसमें रस दिया । फिर उसके ऊपर सबने जल्दी-जल्दी मिट्टी डाल दी । उनका कहना था—ऐसे काम में भी यदि वे सहायक न हुए, ऐसे मौकों पर ही यदि उन्होंने तत्परता न दिखाई तो उनकी मित्रता ही क्या ! उनका वन्धुत्व फिर किस काम आयेगा !

परसों शाम को जब मैंने उसे देखा था, तब वह मुझे देखकर हँसा था, अपने नन्हे-नन्हे हाथ उसने ऊपर को उठाये थे। पर मैंने उसे गोद में लिया नहीं। मुझे डर था कि बुखार कहीं फिर न चढ़ जाय। पर बुखार चढ़ा और जब उतरा तब वचुआ भी उतर गया। मैं व्यर्थ ही डरा—गोद में भी न ले सका ! कुछ तो सुख मिलता, कुछ तो तसल्ली होती। उसके बाद वह फिर न हँसा। आज वह बिलकुल सफेद हो गया था। आँखें आधी बन्द थीं—साँस नहीं थी, शरीर ठण्डा था। स्त्री रो रही थी, मित्रगण कफन लपेट रहे थे। पर मैं दौड़ा गया, डाक्टर को बुला लाया। मैंने दाँत निकाल कर, रिरियाकर कहा—डाक्टर साहेब ! फीस चाहे जितनी ले लीजिए, पर इसे एक बार अच्छी तरह देख लीजिए ! क्या यह बेहोश हो गया है ? डाक्टर ने करुण दृष्टि से मेरी ओर देखा, प्रेम से मेरे कन्धे पर हाथ रख कर कहा—मर्द हो, मर्द की तरह विपत्ति में धैर्य धरो। शोक में स्त्रियों की तरह घबराओ मत, व्यर्थ की आशा और मृगतृष्णा को छोड़ दो। भगवान की इच्छा पूरी होनी चाहिए—और वह पूरी हुई।

मेरे हाथ-पैर टूट गये। दिल बैठ गया, पर मैं खड़ा रहा। मैंने आवाज करारी रखी, आँसू भी नहीं गिरने दिया, पर मन नीचे को धसकने लगा। मित्रों ने कहा—चलो, खड़े क्यों हो ? मैंने कहा—चलो। मैंने ही उसे हाथों पर रखा था—वह फूल की तरह हलका था !

आसमान का इतना ऊँचा जीना वह कैसे सरलता से चढ़ गया ? याद से दिल की धड़कन बढ़ती है। जिगर में दर्द उठता है। गई वह चाँद-सी सूरत गई, वह आँख का नूर गया—वह हृदय की तरावट गई—वह गई—वह होठों की लाल रंगत, वह

मुस्कराहट, वह-वह-वह-वह सब चली गई ! ! चली गई ! ! जैसे फूल से सुगन्ध उड़ जाती है, जैसे नदी का पानी सूख जाता है, जैसे चन्द्र-ग्रहण पड़ जाता है ! जैसे ? ठहरो सोचता हूँ । जैसे ? नहीं कुछ याद नहीं आता । जैसे ! ...हाँ ! जैसे दिये का तेल जल जाता है, वैसे ही उसकी नन्हीं सी जान निकल गई ।

मेरी स्त्री ने कहा—कहाँ रख आये ? इतनी सर्दी में ? उस गोली मिट्टी में ? अक्ल तो नहीं मारी गई ! बचुआ को सर्दी लग जाय ! गदले और रजाई तो यहाँ पड़ी हैं । जो बचुआ की हड्डियों में ठण्ड बैठ जाय तो क्या खाँसी दम लेने देगी, इसीलिए उसको दिया था ? ठहरो, मैं लिये आती हूँ । वह पागल की तरह दौड़ी । मेरे सिर में गोलियाँ-सी लग रही थीं । भतीजी ने कहा—कहाँ है भैया ? चाची ठहर ! मैं लाती हूँ—चलो बताओ, कहाँ है ? बूढ़ी माँ बोली नहीं । रो रही थी, रो रोह थी, चुप, मीन रो रही थी । चुपचाप ही उसने बेटी को छाती से लगा लिया । मैं स्त्री को कुछ न कह सका । वह मेरे पैरों पर पड़ी थी, मैं मानो आस्मान की ओर उड़ रहा था—आँखें निकली पड़ती थीं, दम घुट रहा था—मैंने कमीज का बटन जोर से तोड़ डाला । मैं खम्भे का सहारा लिये खड़ा रहा ।

वह एक बार फिर मिला । सन्ध्या काल था और गङ्गा चुपचाप वह रही थी । वह चाँदी सी रेती में जमा करके कुछ खेलसा रहा था । मैं कुछ दूर था । मैंने कहा—आ, मेरे पास आ । उसने ताली पीटकर कहा—ना, मेरे पास आ । मैं गया । वहाँ की हवा सुगन्ध से भर रही थी । मैं कुछ ठण्डा-सा होने लगा । उसके चेहरे पर कुछ किरणें चमक रही थीं । मैंने कहा—बिटुआ ! धूप में ज्यादा मत खेलो ।

उसने हंस दिया । सुन्दरता लहरा उठी । उसने एक फूल दिखा कर कहा—अच्छा इस फूल का क्या रंग है ?

मेरा रक्त नाच उठा । अरे ! बेटा तो बोलना सीख गया । मैंने लपक कर फूल उसके हाथ से लेना चाहा, वह और दूर दौड़ गया । उसने कहा—“ना, इसे छूना नहीं । इस फूल को दुनिया की हवा नहीं लगी है और न इसकी गन्ध इसमें से बाहर को उड़ी है । ये देव-पूजा के फूल हैं—ये विलास की सजावट में काम न आयेंगे ।”

इतना कह कर विटुआ गङ्गा की ओर दौड़ कर उसी में खो गया । मैं कुछ दौड़ा तो—पर पानी से डर गया । इतने में ही आँख खुल गई । घुप अन्धकार था । हाय वह स्वप्न था ! वह भी आया और गया ! अब ?

चिंता

क्या मैं ऐसा था ? मेरा चेहरा ऐसा था ? यही मेरा शरीर था ? मेरी माता होती तो उससे पुछवाता ! कैसा कुन्दन-सा रंग था, कैसा माँसल शरीर था । ताऊजी कहा करते थे—लड़के को किसी भिड़-ततैये ने तो नहीं काट खाया है ! ताई उन्हें फटकार कर कहती थीं—वाहजी ! खवरदार जो मेरे छोरे को नजर लगाई है । लाल सिंदूरिया रंग था—आँखें माँस में घुस गई थीं । स्कूल मास्टर के हजार डाटने पर भी हँसी नहीं रुकती थी । पेटा बार-बार कहते—अरे बेटा ! गम्भीरता से रहो, हर समय हाँ हँसा करते । माता ने नाम रक्खा था 'चटोरदास ।' खट्टा-पीठा ताजा-वासी जो सामने आता, सामने आने की देर थी, जाने की नहीं । और नींद ?—नींद का क्या पूछते हो ! उधार पाये बैठी रहती थी । खाते-खाते सो जाता था—सुना आपने ? खाते-खाते । मौज थी जो हृदय में उमड़ रही थी—विजली थी जो नस-नस में भर रही थी । हाय, कहाँ गये वे दिन ? मेरे वचपन के दिन ! वे सुनहरे, प्यारे दुलारे दिन ! वे दगावाज दिन ! किस गड़ढे में मुझे धकेल गये ! जवानी ? बुरा हो इस जवानी का ! ईश्वर किसी को न दे यह जवानी । मेरा नाश बन कर छाती पर चढ़ी है, और अब काल बन कर सिर पर मँडरा रही है । डायन न खाने देती है, न सोने देती है, न चैन से

साँस लेने देती है। कुलटा अपनी ही ओर देखती है, अपनी ही ओर। यह गत तो बन गई है, पर मरी नहीं, हैजा नहीं हुआ—इसे काल नहीं आया। मक्खियाँ तो भिनकने लगी हैं—गलियारे में पड़ी रहती है। आँसू पीती है, और गम खाती है—फिर भी जवान बनी हुई है—उफ है—तुफ है।

कहाँ गई वह नींद ? वह भूख ? वह हँसी ? वह मौज ? बैठा रहता हूँ तो सिर में विचारों की रई चलती रहती है, लेटता हूँ तो खून की बूँदें नाचती हैं, सोता हूँ तो स्वप्नों का ताँता बँध जाता है, खाता हूँ तो खाना ही मुझे खाने लगता है, कहीं क्या ? उद्धार का—छुटकारे का—कोई भी तो उपाय नहीं दीखता। कुछ भी तो नजर नहीं आता। क्या मरना पड़ेगा ? अभी से ? इतनी जल्दी ? अभी तो इच्छा नहीं है। पिता जी इस उम्र में मेरे पिता भी नहीं हुए थे। ताऊ जी अभी जीवित हैं ! मैं अभी से क्यों ? पर इस तरह तो निर्वाह होना कठिन है, मजबूरी है। अच्छा मरूँगा। मजबूरी है।

पर मौत है कहाँ ! उसका दफ्तर भी कहीं ढूँढ़ना होगा। उसके मुनीम गुमाश्ते चपरासी—इन्हें हक देना होगा ? यह तो कायदे की बात है ! यह देखो गालों की हड्डियाँ निकल आई हैं—माथे में गढ़ा पड़ गया है, आँखें गढ़ों में धँस गई हैं—चेहरे पर स्याही दीढ़ गई है—शायद वह आ रही है—पर हाय ! हाय ! मैं तो मरने से पहले ही कुरूप हुआ जाता हूँ।

आशा ने कितने झाँसे दिये थे, उत्साह ने कितनी पीठ ठोकी थी, मन ने कितनी हिम्मत बाँधी थी—सब सटक सीताराम हुए। सब खसक गये। बनी के सब साथी थे। अकेली जवानी कब तक

चलेगी ! वे हवाई मृगतृष्णा निकले । सब से वाजदावा देने को तैयार हूँ—पर निकलना कठिन है, गुनाह बेलज्जत ! मरना-झपना सब औरों के लिये...तिस पर कृतज्ञता का पता नहीं—जिक्र भी नहीं । मार डाला, अधमरा कर डाला, प्राण निकलें तो प्राण वचें ! ठहरो—अभी खाने की इच्छा नहीं है । ना—अभी नहीं सोऊँगा । सोचने दो, हटो—सब भागो, कोई मेरे पास मत आओ—मेरा ध्यान मत भंग करो, मैं कुछ सोच रहा हूँ । हटाओ, इस वच्चे को हटाओ वरना तमाचा मार दूँगा । मुझे कोई अच्छा नहीं लगता । स्त्री बीमार है तो भाड़ में जाय । वाप मरता है तो मरे । वहन भीख माँगती है तो माँगे । मैंने क्या सबका ठेका ले रखा है ! हटो हटो—मगज मत खाओ । मुझे एकान्त में छोड़ दो—मुझे सोचने दो—मुझे कुछ सोचने दो—जरूरी काम सोचना है । ओफ ! सिर घूमता है । ओफ...ओफ !

लोभ

बहुत करेगा मार लेगा, गाली दे लेगा, चार आदमियों में फजीहत करेगा। वस ? इससे तो हद है ? कोई फाँसी तो दे नहीं सकता ? मैं तो कौड़ी का देवाल हूँ नहीं। इधर की धरती उधर हो जाय, सूरज पच्छिम में उगने लगे, प्रलय हो जाये, पर इनमें तो दाँत गड़ने दूँगा नहीं। अजी “जान है तो जहान है और जर है तो दुनिया घर है।” कुछ यहीं तो नाल गड़ा ही नहीं है, अच्छों-अच्छों के बतन छूट जाते हैं। अच्छों-अच्छों को परदेश रहना पड़ता है, इसमें पशोपेश क्या ? काम बनाया और सटक सीताराम। कहा भी है—“देश चोरी और परदेश भीख।” कौन पूछता है, सब इसी की पूजा करते हैं। इसी का सारा नाता है—इसकी गर्मी ही मजे की गर्मी है। सच कहा है किसी ने—“धरा पाताल और दिपे कपाल।” इसी की इज्जत, इसी का बल, इसी का सारा कारवार है। यही न रहेगा तो शरीर क्या काम आयेगा ? कौन खरा है ? मुँह बनाकर सामने आये। सबको जानता हूँ। कमा कर कौन धनी बना है ? राम कहो, “घर आये नाग न पूजिये, बाँवई पूजन जाय।” मैं ऐसा अहमक नहीं हूँ। भगवान् ने घर बैठे लक्ष्मी भेजी है—तो मैं क्या ढकेल दूँ ? वाह ! यह खूब कही। सब के यहाँ इसी तरह चुपचाप आती है। गा बजा कर किसके गई है ? लोग तो खून तक करते हैं !

हाँ खून, इसी के लिये । मैंने किसी का गला तो नहीं काटा ? जो होगा देखा जायगा । मुझे इतना कच्चा मत समझना—आठों गाँठ कुम्भेत हूँ । इसी को प्रारब्ध कहते हैं । विना कमाये आये और बेलाग आये । और यों थोड़े-बहुत झापट झगड़े तो लगे ही रहते हैं । थोड़ा कसा रहना चाहिए—सब संकट कटेंगे । माल क्या थोड़ा है ? अच्छा गिन कर देखूँ । नहीं, यह शायद ठीक न होगा । कोई देख ले तो ? अभी मामला रफा-दफा तो होने दो । कहीं भागा थोड़े ही जाता है, यह तो प्राण से भी बढ़ कर प्यारा है । यही स्वर्ग है—यही भगवान् है—इसी के पीछे भटक रहा था—आज मिला है—आओ भगवान् ! आओ मेरे बाप ! आओ मेरे बुजुर्ग ! मेरे कुलदेव ! वंशोद्धारक ! आओ आओ ! मेरी छाती को ठण्डी करो ! तुम में विश्वासघात का विष्ठा लगा होगा तो मैं तुम्हें धो लूँगा । तुम में छल का दाग होगा तो रगड़ दूँगा । किसी तरह आओ तो ! आओ आओ आओ ! आओ मेरे इष्टदेव ! आओ !

क्रोध

सिर्फ हजार रुपये की ही तो बात थी ! वह भी नहीं दे सका ! देना एक ओर रहा—पत्र का उत्तर तक नहीं दिया । एक दो तीन चार सब पत्र हजम किये ? सब पचा लिये ? यही मित्रता थी ? मित्रता ? मित्रता कहाँ है ? मित्रता एक शब्द है, एक आडम्बर है, एक विडम्बना है, एक छल है—ठीक छल नहीं, छल की छाया है । वह भूत की तरह बढ़ती है, रात की तरह काली है, और पाप की तरह काँपती है ।

तुम लखपती थे ? वे तुम्हारे लाख रुपये सुरक्षित लोहे के सन्दूकों में बन्द रखे हैं ? और मैं ? हाड़ मांस का आदमी, जिसकी छाती में हृदय—जीवित हृदय, धरोहर धरा है—इस तरह यातना—अपमान—कष्ट और भयङ्करता में झकोरे ले रहा हूँ ! मित्रता की ऐसी तैसी, मित्रता के वाप की ऐसी तैसी ! निष्ठुर पाखण्डी सोने के डले ! विना तपाये और कुचले तुझमें नमी आना ही असम्भव था !!!

तुम ! तुम मेरे भक्त थे; क्या यह सच है ? भक्ति किसे कहते हैं मालूम है ? चुप रहो, वको मत, ज्ञान मत बघारो, मैं ही मूर्ख हूँ । मेरे उपदेशों को तुमने मनोहर कहानी हमझा होगा ! ठीक अब समझा, तुम मनोरंजन ही के लिये मेरे पास आते थे ! धीरे-धीरे अब सब दीख पड़ता है । जब मैं आवेश में आकर अपने

आविष्कृत सिद्धान्त जोर-शोर से तुम्हारे सामने बोलता था, तब तुम हँसते थे। उस तुम्हारी हँसी का तब मतलब नहीं समझा था, अब समझा। उफ, ऐसे भयङ्कर गम्भीर सिद्धान्तों को तुम मनोरंजन समझ कर सुनते थे ? ठीक है। पिशाचों को श्मशान में नृत्य ही की सूझती है। प्रकृति कहाँ जायगी ! पर मुझे मनुष्य की परख नहीं हुई, मैं पूरा वज्रमूर्ख हूँ। मैंने भैंस के आगे बीन बजाकर सुनाई थी—हाय करम ! हाय तकदीर !!!

कुछ भी समझ नहीं पड़ता। अचम्भा है। मनुष्य रूप पाकर मनुष्य हृदय से शून्य कैसे जीते हैं ! अमीरों के हृदय कहाँ हैं ! सारे अमीर मर कर भेड़िये, साँप, विच्छू बनने लगे ! ये मनुष्य-जन्म में अपनी बुद्धि से जिस रूप का अभ्यास कर रहे हैं, वही रूप इन्हें मिलेगा ! वाह ! बड़ा अच्छा तुम्हारा भविष्य है। मैंने सुना है—पुराने खजानों में साँपों का पहरा होता है। तुम सब धनी लोग वही साँप हो। फर्क इतना है, तुम सब बनने वाले हो और वे बन गये हैं। वे तुमसे सिर्फ एक जन्म आगे हैं। उनके तुम्हारे बीच में केवल एक मृत्यु का पुल है। उसे पार किया कि बस असली रूप पा गये।

हे सफेद पगड़ी और सफेद अँगरखे वाले ! हे टमटम, मोटर-गाड़ियों में खिचड़ने वाले ! हे अपाहिजो ! अभागो ! रोगियो ! निपूतो ! हीजड़ो ! तुम पर मुझे दया आती है। किन्तु तुम्हारा भविष्य देख कर मुझे सन्तोष होता है, सुख मिलता है।

मेरा बच्चा मर गया। उसे दूध नहीं मिला। मेरी स्त्री के स्तनों में जितना दूध था, वह सब पिला चुकी। जब निवट गया, तब लाचार हो गई। बाजार से मिला नहीं। पैसा न था, बिना पैसे बाजार में कुछ नहीं मिलता। पहले, जब संसार में बाजार

स हा वाजार है । वच्चा कई दिन सूखे मुँह सूखे स्तन चूसकर सिसकता रहा । अन्त में ठण्डा पड़ गया । मेरे प्यारे मित्र, तुमसे तो कुछ छिपा नहीं है, वही मेरा एक वच्चा था । अब मैं किसे देखूँ ! अच्छा दिखाओ तो तुम्हारा वच्चा कितना मोटा हो गया है ? हरे राम ! साँप के वच्चे को तो देखो कैसा फूला है । तुमने इसे इतना क्यों चराया है ? इतना खून यह क्या करेगा ? इसे कितने दिन इस योनि में रखने का इरादा है ? यह अपनी काँचली कब बदलेगा ?

मेरी कुशल पूछते हो ? ठीक है, वाजवी है, बहुत दिन से मिली नहीं थी । अच्छा सुनो । भयानक युद्ध में फँसा हुआ हूँ । इसी युद्ध में मेरे स्त्री-वच्चे ढह चुके हैं—एक भूखा रह कर और दूसरा रोगी रहकर । मैं भी रोगी हो गया हूँ । अब खाया नहीं जाता । चिन्ता ने जठराग्नि को वुझा दिया है । सिर झनझनाता रहता है । नींद मर गई है । उसकी लाश को तुम्हारे वच्चे चुरा ले गये हैं । पर खैर, मुझे सोने की फुर्सत भी नहीं है । हाँस भी नहीं है । युद्ध कर रहा हूँ—कंगाली से युद्ध कर रहा हूँ, दरिद्रता भीषण दाँत कटकटा कर असंख्य शस्त्र लिये झपट रही है । हाँ हाँ, अब तक परास्त किया है । यह युद्ध का मध्यभाग आ गया है । ठहरो, दो हाथ में साफ है । अभी जीत कर आता हूँ । सत्र करो—सत्र । सत्र । तब तक तुम अपने वच्चे को मलाई खिलाओ । अजीर्ण बढ़ाओ । बढ़ाओ । और मेरा युद्ध-कौशल, वीरता, यदि देखनी हो तो आओ मैदान में । लेकिन लड़ने को नहीं, देखने

को । साँपों का लड़ने का काम नहीं है । वे तो अँधेरे में—जहाँ पैर पड़ा, वस वहीं काट लेने के मतलब के हैं । अच्छा जाने दो । मैं फतह करके आता हूँ । देखो, जिस धन को, जिस सोने के ढेर को तुम छाती में छिपाये उसकी आराधना कर रहे हो, जिसे माँ, बाप, भैया, स्त्री, चाची, ताई, नानी, नाना समझ रहे हो, उसी पर—हाँ, बिना किसी तरह का लिहाज किये, उसी ढेर की छाती पर पैर धरके ताण्डव नृत्य करूँगा । अपनी स्त्री की हड्डियों की ठठरियों की मैंने 'भोगली' बनाई है और अपने वच्चे की कच्ची खाल से उसे मँढ़ लिया है । यह है मेरा डमरू । वह बजेगा ढम ढमाढम । दिग्दिगन्त गूँज उठेंगे । फिर मेरा थिरक-थिरक कर ताण्डव नृत्य होगा । हा ! हा ! हा ! ताण्डव नृत्य होगा । फिर, नाच कर, उसी ढेर को ठुकरा कर, जूतों में कुचल कर फेंक दूँगा । उस पर थूक दूँगा । तब जी चाहे तो ले जाना । लूट कर ले जाना, आँख बचाकर ले जाना । धन है, वह लात मारने से, थूकने से, अपवित्र-अपमानित तो हो नहीं जायगा ! उसकी रबड़ी, मिठाई, फल लाकर वच्चे को खिलाना । मोटा हो जायगा, रंगत चढ़ जायगी । और तुम्हारी स्त्री ? हा ! हा ! हा ! उस धन से खरीदा हुआ घाघरा उसके लिये परम कल्याण-कारक होगा । यही हजार रुपया उसमें से दान-धर्म में लगा देना । वस, स्वर्ग में तुम्हारे बाप तुम्हारे लिये द्वार खोले खड़े रहेंगे ।

मगर ठहरो ! खुशी से उछल न पड़ना । यह लूट का माल ढेर से मिलेगा । अभी युद्ध भी विजय नहीं हुआ है । सम्भव है, इसी युद्ध में मेरी जवानी मारी जाय । उसी के सिर तो इस युद्ध का सेहरा है ! वही तो इस युद्ध की सेनापति है ! उसके चारों ओर गोलियाँ बरस रही हैं । यदि वह मारी गई और तब विजय

निकालूँगा, रुपया देकर मोल ले लूँगा । मेरा सफेद केश, दन्तहीन मुख उस पर सज जायगा । एक बार नाच कर उसे मैं ठोकर मार दूँगा । फिर जिसके भाग्य में हो, वह उसे ले जाय ।

मेरी वह विजय-वीरता की कहानी जो सुनेगा, उसे साँप का जहर नहीं चढ़ेगा । मेरी शपथ देने से साँप का विष उतर जायगा । जो साँप मनुष्य का स्वाँग धरे छल से धन पर बैठे हैं और जो धन निकम्मा पड़ा जंग खा रहा है, उनके डर से जो लोग, बालक, स्त्रियाँ शरीर और लज्जा की रक्षा तक करने को तरसती हैं, पर उसमें से नहीं ले सकतीं, मेरे नाम की दुहाई लेते ही, वे सब काले साँप बन जायेंगे और क्षण भर में भाग जायेंगे । उस धन से भूखे अन्न लेंगे, वच्चे दूध लेंगे, रोगी औषधि लेंगे, प्यासे जल लेंगे और दुःखी सुख लेंगे । इतने पर जो शेष बचेगा, वह मेरी दिवंगत आत्मा का होगा । विद्वान लोग मेरी आत्मा की शान्ति के लिए प्रतिवर्ष भाद्रपद वदी चौथ को उस धन पर एक, दो, तीन, चार, दस, बीस, पचास, सौ, हजार, लाख, करोड़, अरब, खरब असंख्य जूते लगायेंगे ! अहाहा ! कब होगा मेरा वह ताण्डव नृत्य ! वह युद्ध का यौवन फूटा पड़ता है । हूँ—हूँ—वह मारा !! हूँ ! हूँ !

निराशा

हाथ-पैर मारना और खून सुखाना व्यर्थ है। न इससे कुछ हुआ, न होगा। जब मैं ऐसे चेहरों का ध्यान करता हूँ जिन्हें धन में धन, रूप में रूप, प्यार में प्यार, सुख में सुख, विद्या में विद्या और मान में मान मिला हुआ है, तब मुझे फुर्सत भी नहीं मिलती। और जब मैं उन मुखों का ध्यान करता हूँ जो कहीं कुछ न पाकर झुक गये हैं तो तवियत ऊब जाती है। किसे देखूँ? अपने देखने से फुर्सत मिले तब न!

दुनिया ऐसी ही जगह है। यहाँ समतल स्थान बहुत कम हैं, प्रायः हैं ही नहीं। विशेषकर मुझे तो खोजे मिले नहीं हैं—कहीं होंगे। मैं जहाँ खड़ा हूँ, वह एक वड़ी ही विकट पहाड़ी है। मेरे पैर जहाँ टिक रहे हैं, वह बहुत ही सकड़ी पगडण्डी है। उसके एक तरफ अतल पाताल है और दूसरी तरफ ढालू गगनभेदी चट्टान है। दोनों ही—चट्टान भी और पाताल भी—मेरे ही जैसे जीवों से भर रही हैं! मुझमें और उनमें अन्तर इतना ही है कि नीचे वाले नीचे हैं और ऊपर वाले ऊँचे हैं। पर नीचे वाले ऊपर न आना चाहें और ऊपर वाले नीचे न आना चाहें तो यह अन्तर कुछ भी नहीं रहता। यह समझना कठिन है कि सुखी कौन है। पर मेरी इच्छा ऊपर ही जाने की थी, इससे मैं समझता हूँ ऊपर जाने में सुख है। ऊपर जा पहुँचने में क्या है? सुख है भी या

निराशा

हाथ-पैर मारना और खून सुखाना व्यर्थ है । न इससे कुछ हुआ, न होगा । जब मैं ऐसे चेहरों का ध्यान करता हूँ जिन्हें धन में धन, रूप में रूप, प्यार में प्यार, सुख में सुख, विद्या में विद्या और मान में मान मिला हुआ है, तब मुझे फुर्सत भी नहीं मिलती । और जब मैं उन मुखों का ध्यान करता हूँ जो कहीं कुछ न पाकर झुक गये हैं तो तवियत ऊब जाती है । किसे देखूँ ? अपने देखने से फुर्सत मिले तब न !

दुनिया ऐसी ही जगह है । यहाँ समतल स्थान बहुत कम हैं, प्रायः हैं ही नहीं । विशेषकर मुझे तो खोजे मिले नहीं हैं—कहीं होंगे । मैं जहाँ खड़ा हूँ, वह एक बड़ी ही विकट पहाड़ी है । मेरे पैर जहाँ टिक रहे हैं, वह बहुत ही सकड़ी पगडण्डी है । उसके एक तरफ अतल पाताल है और दूसरी तरफ ढालू गगनभेदी चट्टान है । दोनों ही—चट्टान भी और पाताल भी—मेरे ही जैसे जीवों से भर रही हैं ! मुझमें और उनमें अन्तर इतना ही है कि नीचे वाले नीचे हैं और ऊपर वाले ऊँचे हैं । पर नीचे वाले ऊपर न आना चाहें और ऊपर वाले नीचे न आना चाहें तो यह अन्तर कुछ भी नहीं रहता । यह समझना कठिन है कि सुखी कौन है । पर मेरी इच्छा ऊपर ही जाने की थी, इससे मैं समझता हूँ ऊपर जाने में सुख है । ऊपर जा पहुँचने में क्या है ? सुख है भी या

नहीं, इसकी वावत कुछ भी नहीं कह सकता। पर शायद सुन्न नहीं है।

इसके प्रमाण में मैं यदि कहता हूँ कि मैं भी कुछ से ऊँचा हूँ, पर मुझे सुख कहाँ है ? जो मुझ तक आना चाहते हैं, वे मुझ तक पहुँचने में भले ही सुख समझें, पर मुझे सुखी समझना उनकी भूल है। फिर भी वहाँ पहुँचने में भी सुख समझा था, यही बड़ी बात थी। सुख की राह तो मिल गई थी। यही क्या कुछ कम था ! पर अब तो यहीं, इसी अध-बीच में, इसी तंग पगडण्डी में डेरा डालना पड़ा। अब बाकी समय का कोई समय-विभाग नहीं है। काम सब खत्म हो गया है। नहीं नहीं, उससे मैंने इस्तीफा दे दिया है। यह देखो, ऊपर वाले और ऊपर जा रहे हैं और नीचे वाले ऊपर आ रहे हैं। कहाँ ? काम तो कहीं भी खत्म नहीं हुआ है ! तब सबसे उपराम होकर, सबको काम करता देख-कर कैसे नींद आयेगी ? विश्रान्ति कहाँ मिलेगी ? दिन कैसे कटेंगे ? मरने के तो अभी बहुत दिन हैं।

हाँ, पर अब पाँव नहीं उठते, कमर टूट गई है, दिल बैठ गया है, रक्त ठण्डा पड़ गया है। इतना करके कुछ न पाया, आगे क्या पायेंगे ? कुछ नहीं। सब मृगतृष्णा है—मृगतृष्णा। इस ऊँचाई का कुछ अन्त तो है नहीं, ठेठ तक वही पगडण्डी गई है। यही तंग पगडण्डी, जब तक चोटी पर न पहुँचे और दस हाथ चढ़ने पर भी यही पगडण्डी, यही एक तरफ ऊँचा पहाड़, यही एक तरफ अतल पाताल—सब वही है। और चोटी ? चोटी का नाम न लो, वहाँ नहीं पहुँचा जायगा। हर्गिज नहीं पहुँचा जायगा। आ मन ! सन्तोष से यहीं बैठ।

आशा

आशा ! आशा ! अरी भलीमानस ! जरा ठहर तो सही, सुन तो सही, कहाँ खींचे लिये जा रही है ? इतनी तेजी से, इतने जोर से ? आखिर सुनूँ तो कि पड़ाव कितनी दूर है ? मञ्जिल कहाँ है ? ओर-छोर किधर है ? कहीं कुछ भी तो नहीं देखता, क्या अन्धेरे हैं ! छोड़, मुझे छोड़ । इस उच्चाकांक्षा से मैं वाज आया । पड़ा रहने दे, मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता । ना—ना, अब दम नहीं रहा । यह देखो यह हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गये, साँस रुक गया, दम फूल गया । क्या मार हो डालेगी सत्या-नाशिनी ? किस सवजवाग का झाँसा दिया था ? किस मृग-वृष्णा में डाला मायाविनी ? छोड़ छोड़, मैं तो यहीं मरा जाता हूँ—यहीं समाप्त हो रहा हूँ ! मैंने छोड़ा, वाजदावा देती हूँ—मेरी जान छोड़ । मैं यहीं पड़ा रहूँगा । भूख और प्यास सब मंजूर !—हाय ! वह कैसी कुघड़ी थी, जब मैं प्यारी शान्ति का हाथ ग़ोड़, उससे पत्ला छुड़ा, उसे धक्का मार, अन्धे की तरह—नहीं नहीं पागल की तरह—तेरे पीछे भागा था ! कैसी भङ्ग खाली थी, कैसी सुमत गँवाई थी ! कहाँ है मेरी शान्ति ? कुछ भी पता नहीं है—जीती भी है या मर गई !

क्या करता ? तेरी मोहभरी चितवन, उन्मादक मुस्कुराहट, और दिल को लोट-पोट करने वाली चपलता ने मुझे मार डाला ।

मुझ पर, मेरे दिल पर, मेरी शान्ति पर सवने डाका डाला । शान्ति छुटी, सुख छुटा, घर-वार छुटा, आराम छुटा, अब भी दौड़ वन्द नहीं ! अब भी मंजिल पूरी नहीं ! तैने कहा था, वहाँ एक करोड़ स्वर्गों का निचोड़ा हुआ रस सड़कों पर छिड़का जाता है । तैने कहा था, शान्तियों का वहाँ ढलाई का कारखाना खुला हुआ है । तैने कहा था, सुख के सात समुद्र भरे पड़े हैं । तैने कहा था, रूप का वहाँ अतर खींचा रखा है । तेरे इतने प्रलोभनों में यदि मैं भटक गया तो भगवान् मेरा अपराध क्षमा करें । यहाँ तो मार्ग ही मार्ग है—मंजिल का कहीं ठिकाना ही नहीं है । क्या जाने कहीं है भी या नहीं ।

प्यास के मारे कण्ठ चिपक गया है । जीभ तालू से सट गई है । घर में कुए का ठण्डा जल था, उसे छोड़ अमृत के लोभ में निकला, तो प्यास पल्ले पड़ी । घर में पेट भर रोटियाँ तो थीं—जैसी भी थीं—मोहन भोग के लोभ में गधे की तरह वे छोड़ दीं, अब भूख के मारे आँखें निकल रही हैं । चटार्ई का विछौना क्या बुरा था ? सिंहासन कहाँ है ? यहाँ चलते-चलते पैर टूट गये हैं । वह वीहड़ मैदान, रेगिस्तान, नदी-नद, तालाव, झील, जङ्गल, वन, नगर, पहाड़, गुफा, खोह, ऊबड़-खावड़—ओफ सब तय किये आ रहा हूँ । अभी और भी तेरी उँगली उठ रही है । तेरी तेजी बराबर जारी है । तू नहीं थकी ? पसीना भी आया ? होश-हवास बराबर कायम हैं ? भोषण सुन्दरी तू कौन है ? वही आगे को उँगली उठा रही है । 'थोड़ी दूर और है' यही तेरा मन्त्र है । बड़ी चली जा रही है, आँधी और तूफान की तरह । छोड़ दे, मेरी उँगली को छोड़ दे, नहीं तो मैं उँगली काट डालूँगा । थोड़ी दूर हो या बहुत दूर हो, वस मुझसे नहीं चल जाता । घुटने

छिल गये, वाल पक गये । पेट कमर में लग गया । कमर धरती पर झुक गई । अब भी दया नहीं—अब भी आराम नहीं । रहने दे, मैं यहीं आराम करूँगा, यहीं गिरूँगा, यहीं भरूँगा, जा, छोड़, छोड़ ।

लौट ही जाता । शायद शान्ति मिल जाती । पर ! पर ! पर ! लौटने का ठिकाना किधर है ? और आ किधर से रहा हूँ—कुछ भी तो नहीं मालूम । दौड़ा-दौड़ा आ रहा हूँ—इधर देखा न उधर । आज से आ रहा हूँ ? जन्म समाप्त हो चला । सारा समय मार्ग में ही बीत गया—फिर भी कहती है—‘थोड़ा और’ । लौटने दे । पर लौटने का समय कहाँ है ? घर बहुत दूर है । उसकी राह जवानी से बुढ़ापे तक की है । अब बूढ़ा तो हो गया, जवानी अब कहाँ से आयेगी ? अब लौटना व्यर्थ है । असम्भव है ? तब ? तब क्या यहीं मरना होगा ? यहीं ? मार्ग में ? काँटे और पत्थरों से भरी धरती में ? हिंसक जन्तुओं से भरे जंगल में ? हे भगवान, जवानी से बुढ़ापे तक, दौड़ने-मरने—सब कुछ त्यागने का, यही यही यही फल मिला ? हाय !

फिर वही, “थोड़ी दूर और ।” यह थोड़ी दूर कितनी है ? सच तो बता, ईश्वर की कसम । अब तो वापस लौटने का समय ही नहीं है । प्रकाश का एक कण भी तो नहीं दोखता । तेरी आँखें मात्र चमकती हैं । इन आँखों के प्रकाश में और कब तक चलूँ ? ना-ना, अब दम नहीं है । मैं हाथ जोड़ूँ, हा हा खाऊँ, मुझे छोड़ दे । मरने को छोड़ दे । मुझे न सुख की हौस है, न जीने की ।

क्या कहा ? मंजिल आ गई ? कहाँ ? किधर ? देखूँ ? इतना क्यों हँसती है ? मुझे हँसना अच्छा नहीं लगता । ठहर ! क्या.

सचमुच मंजिल आ गई ? यह जो सामने चमक रहा है—वही क्या हमरा गन्तव्य स्थान है ? पर वह तो अभी दूर है । वहाँ तक पहुँचने की ताव कहाँ है ? और पहुँच कर वह भोग भोगने की शक्ति भी कहाँ रह गई है ? रहने दे । अब एक पग भी न चलूँगा । चला भी न जायगा । इसका कोई उपयोग नहीं । पहुँचना ही कठिन है और पहुँचकर उसका उपभोग करना तो और भी कठिन, असम्भव है । भोग का समय, आयु, शक्ति, सब इस मार्ग में समाप्त हो गई । अब क्या उस भोग को लालच की दृष्टि से तरसते मन से देखने को वहाँ जाऊँ ? यह तो और भी कटु होगा । रहने दे, अब वहाँ जाने का कुछ आकर्षण नहीं रहा । तुम अक्षय-यौवना हो, किसी अक्षययौवन को पकड़ो । और मैं तो यहीं इसी मार्ग में मरा ! हे भगवान ! आज शान्ति मिलती ! आशा ! आशा तुम जाओ जाओ ! हाय ! मैं मरा ! एँ ! एँ ! क्या कहा ? वहाँ सब थकान-व्याधि मिट जायगी ? शान्ति भी मिल जायगी ? नहीं ? ऐसा ! अच्छा भाग्यवती ! चल । अच्छा चल । पर कितनी दूर है ? है तो सामने ही न ? अच्छा और चार पग सही—चल-चल !

घृणा

हटाओ ! हटाओ ! उसे मेरे सामने से हटाओ ! ना, मैं उसे दण्ड नहीं दूँगा । भगवान उसे देखेंगे । उसके योग्य कोई दण्ड नहीं है । यह काम मनुष्य की शक्ति के बाहर है । यह मेरा अन्त समय है । जहाँ जाता हूँ वहाँ शायद भगवान् मिलें । उसका नाम मत लो । मुझे जरा सुख से मरने दो । उसकी बात मत करो । नीच, स्वार्थी, झूठा, विश्वासघाती, कमीना । उफ, किसी तरह उसका नाम भुला दो । आग के अँगारे की तरह यह छाती पर धरा है । हाय ! उसी की याद आती है । उस याद में सड़ी वास आती है, दिमाग फटा जाता है ।

मेरी सरला वधू गाँव की गँवारी थी । सीधी सादी । आज यह कहाँ है ? वह घास का सफेद फूल मसल कर किस मोरी में गल दिया है ? कितनी चाह से मैं उसे लाया था । समझा था, यह मेरी है । उसने भी कहा था—मेरी है । तू कौन था ? उच्छिष्ट-गोत्री कौवे ? काने ! काले ! तू कहाँ से देखता था ? देखते खते ही ले भागा । तुझे मार डालूँ—यह सम्भव है, पर तेरे खून ! हाथ कहाँ धोऊँगा ? यह घृणित खून ! कोढ़ के कीड़ों से गिज-मजाता खून ! ना, मैं तुझे नहीं मारूँगा, तुझे नहीं छुऊँगा । चल ट सामने से । आँखों में क्यों गड़ा है ? अरे ! निकल ! नीच ! पदार्थ ! मर, मुझे छोड़ । हवा का रुख छोड़ दे । तुझे छूकर जो

तेरा दिल पुरानी हड्डी से भी अधिक सूखा है और खून मुझे भी अधिक ठण्डा है। इस तरह मरे बैल की तरह क्यों आँखें कालता है ? क्या मुझे खायगा ? मेरा खून पीयेगा ? वह तो रे सर्वनाश की चिन्ता में सूख गया ! इसमें क्या स्वाद है !

जा पापी, अब मैं मरा जाता हूँ, मरे को खा जाना। हलक ! उगलन निकाल कर खाने वाले श्वान ! मुर्दार भोजी गीदड़ ! मरा ठहर जा ।

जा, सुख के श्मसान पर मौज कर, प्रेम की लाश का रस पी । तृप्त हो जायगा । इस लोक और परलोक का सब कुछ तुझे मिल जायगा । चल भाग यहाँ से । दूर हो—दूर—दूर—दूर । हटाओ, हटाओ, दूर ले जाओ । दुनिया की आँखों से दूर ले जाओ । धरती-आस्मान से दूर ले जाओ । जो इसे देखेगा, अन्धा हो जायगा । जो इसे छुएगा, कोढ़ी हो जायगा । जो इसके पास से होकर निकलेगा, सड़ जायगा । जिसे इसकी हवा लगेगी, कीड़ा बन जायगा । इसे गाड़ दो, धरती में गाड़ दो, या मिट्टी का तेल डालकर दीयासलाई दिखा दो । नहीं तो नदी में फेंक दो । देखना, चीमटे से पकड़ना । दाँत तोड़ देना, आँख फोड़ देना, पैर कांट डालना, सावधान रहना । ओफ ! आँख ओझल हुआ । झगड़ा कटा । मगर भीतर है । अभी है ? वही है । हे भगवान् ! हे नाथ ! इसे भुला दो, मुझे बुला लो । यहाँ यह नहीं छोड़ेगा । हाय ! देखो किस तरह घूरता है ! मैं मरा हाय ! हाय ! छूना मत—छूना मत ! ओफ !!!

—:०६०:—

भय

हैं। यह खड़का कैसा ! कौन ? इसे भी खोदकर यहीं ग
 दूंगा। ओह ? कुछ नहीं। मैं यों ही डर गया—हवा से पर
 खड़क गया था। अब यह क्या ? कोई है ? नहीं, कोई नहीं। यह
 कौन आयगा ? इस वीहड़ वन में ? इस भयंकर जंगल में ? इ
 त्नाटे की रात में ? इस चिल्ले की सर्दों में...। लोहू जम गया है
 ठ सीं गये हैं, जीभ तालू से सट गई है। कैसा अन्धेरा है।
 प रे ! यह क्या चमकता है ? हैं, किसने छुआ ? यह ठण्डा
 थ किसका है ? भागू ? किधर ? पगडण्डी किधर है ? अब वह
 न बोला ? ओह ! कोई पक्षी है। मैं भी कैसा सूखे हूँ—अपने
 पद-शब्द से चौंकता हूँ, अपनी ही छाया से डरता हूँ, अपने ही
 र्श से काँपता हूँ। काम जल्दी खत्म करना चाहिए। अच्छा अब
 खोदूँ। कुदाल कितना भारी है। जमीन लोहे सी हो रही है।
 जरा सी चोट में कितना शब्द होता है। कहीं यह चिल्ला न
 उठे। जब मर ही गया है तब क्या चिल्लायगा ? उस वक्त ही
 नहीं चिल्लाने दिया—एक शब्द तो निकलने दिया ही नहीं।
 कैसा छटपटाया था, कितने हाथ पैर मारे थे, कितना जोर लगाया
 था, पर अन्त में ठण्डा हो गया। आँखें बाहर निकल पड़ी थीं,
 जीभ हलक से लटक गई थी, गले की नसें फूल गई थीं, दो मिनट
 में दम उलट दिया। ना—ना। वह बात याद न करूँगा। कोई,

सुन न ले । गला क्यों कस गया ? दम घुटता है । ठहरो, कुर्ते को फाड़ डालूँ । हाथ क्या गीले हैं ? ऐं ? खून ! खून ! चुप ! चिल्लाता क्यों हूँ ? अन्धेरे में कौन देखता है ! धो लेने पर साफ ! अरे ! क्या वह उठता है ? तू कौन ? भूत कि पिशाच ? तुझे भी मार डालूँगा । अब यह पल्ला किसने खींचा ? पीछे कोई है क्या ? पीछे फिर कर देखूँ ? कोई मार न दे ! मुझे क्या कोई पकड़ लेगा ? सबूत ? सबूत क्या है ! फाँसी ? मुझे किस सबूत से ? गवाह कौन है ? यही बोलेगा क्या ? मुर्दा ! यह ! ठहरो, इसे दुवारा मारे देता हूँ । यह क्या ! पसीना आ रहा है ! भागूँ ? पैरों में पारा चढ़ गया ? भागूँ ? और यह यों ही रहेगा ? पड़ा रहे ? कौन देखता है ? कौन जानता है ? कौन कहता है ? सबूत क्या है ? यह कौन हँसा ? इतनी जोर से ? कौन ? कोई नहीं । भागूँ ? अच्छा भागता हूँ । पड़ा रहने दो, सबूत क्या है । इसी के कपड़ों से हाथ पोंछ दूँ । पानी है क्या । वह नहीं है ! अच्छा भागता हूँ ! ऐं पी-पी-पीछे कौन—कौन है ! यह गिरा ! वचाओ—वचाओ ! दौड़ो—दौड़ो ! फाँसी—न-न-नहीं—मैं नहीं । सबूत ! नहीं, मैं नहीं—वापरे ! फाँसी ! फ-फ-फ-फाँसी ! मरा ! मरा-मरा—हाय !!!

गर्व

वह ? उसकी यह मजाल ! अच्छी बात है देख लूंगा !
मैंडकी को जुकाम हुआ ? मेरी वरावरी करेगा ? वरावरी कहाँ
—आगे बढ़ेगा ? वह भुनगा ? कल तक जो मेरे द्वार पर जूतियाँ
चटखाता फिरता था ! जिसकी माँ के हाथों में चक्की पीसते-
पीसते आँटे पड़ गये हैं, आज वह यों चलेगा ! अकड़ कर, इस
ठाठ से ? कुचल डालूंगा । दूध से मक्खी की तरह निकाल फेंकूंगा ।

मुझे नहीं जानता । ऐसे ऐसे अंटियों में अटके फिरते हैं । बड़े-
बड़े 'तीसमारखाँ' देखे हैं । सब दून की हाँकते थे, पर अन्त में
सबका सिर नीचा हुआ । मैं सबसे ऊँचा हुआ । इन्हीं हाथों से यह
सम्मान, यह धाक, यह जलाल पैदा किया । किसी को क्या सम-
झता हूँ ! लखपती होंगे तो अपने घर के । दिखा दूँगा । यहीं
नाक न रगड़े तो नाम नहीं ।

लड़ लो, चाहे जिस तरह लड़ लो । धन में, बल में, विद्या
में, खर्च में । चार कौड़ी क्या हुई, सींग निकल आये । धरती पर
पैर नहीं टेकते । कुछ परवाह नहीं । ईट से ईट बजा दूँगा । या मैं
नहीं या वह नहीं । मैं हूँ मैं ! किसकी मजाल है ! किसकी माँ ने
धौंसा खाया है, किसकी छाती पर बाल हैं ? डाढ़ी का बाल
उखड़वा लूँगा । वह मैं हूँ ! मेरा नाम क्या वे जानते नहीं हैं !
किसने मुझे अब तक नीचा दिखाया ! जो उठा, वहीं खटमल की

तरह मसल दिया ! दम क्या है ! किस बूते पर उछलते हैं । सब पतंगे हैं—पतंगे । बेमौत मरते हैं । किसी ने सच कहा है—“चिउँटी के जब पर भये, मौत गई नियराय ।” यहाँ तो मेरी चलेगी । मेरी ही मूँछें ऊँची उठेंगी । यह सारी सम्पदा मैंने अपने भुजबल से पैदा की है । कितनों को रोटी देता हूँ । कितने मेरा टुकड़ा खाते हैं ! कितने मेरे हाथ से पलते हैं । ऐसा कोई है ? वादशाहों की पूँछ में क्या सुखाव के पर लगे रहते हैं ? मैं किस बात में कम हूँ ? जहाँ जाता हूँ लोग झुक कर सलाम करते हैं । और जाने की जरूरत भी नहीं पड़ती, लोग यहीं सलाम करने आते हैं । मेला लगा रहता है । मैं किस के दरवाजे जाऊँगा ? इन्हीं को रोटियाँ लगी हैं, सो जहर के सारे दाँत तोड़े देता हूँ । देखो मेरे हथकण्डे ।

लोग कहते हैं भगवान् से डर । बेवकूफ इसी डर ही डर में भुखड़ बने बैठे हैं ! छोटे-बड़े सब तरह के काम किये, आज तक तो भगवान् ने हाथ पकड़ा नहीं ! तेरी भक्ति की दुम में रस्सा । वे आते हैं पण्डित जी, पूरे वेगैरत, बिना पूछे सौ-सौ असीसों देते हैं । चेहरा ऐसा जैसे कन्न से उठ कर आये हैं । कौड़ी को दाँत से उठाते हैं । ये हैं भगवान् के भगत ! खाते हैं मेरा, कहते हैं भगवान् का । अच्छा सब मौकूफ । इन निकम्मों को आज से कौड़ी न दी जाय । भगवान् से माँगें ! उनका भगवान् देखें कैसे खिलाता है । कहीं भगवान्, न भगवान् की दुम । पद्म का पद्मसिंह बना रखा है ! हम हैं भगवान् ! यह रुपया है हमारा सुदर्शनचक्र । यह दस्तावेज है हमारी गदा । और यह हमारी कृपा है पद्म और आशा शङ्ख । हमें भजो, हमें झुको, हम देंगे—हम देंगे—हम—हम—हम । इधर देखो हम ! हम !! हम !!!

नस-नस में रोगों ने घर कर लिया है। दवाइयों के जहर से कलेजा जला पड़ा है। सिर में विचारों की रुई धुनी जा रही है। कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? पलंग पर पड़े-पड़े हड्डियाँ दुखने लगीं। गद्दे काटते हैं। रात भर नींद नहीं आती। इतने खटमल कहाँ से आ गये ! प्राण निकलें तो पिण्ड छूटे। पर प्राण अभी निकलेंगे नहीं। कितनी साँसत भुगतनी है ? हे भगवान, आगे क्या होगा ? पीछे क्या होगा ? कुछ भी तो नहीं सूझता ! जब से होश सँभाला, जी तोड़ कर कमाया। सारी जवानी परिश्रम के पसीने में लथपथ पड़ी है। रात देखा न दिन। मान देखा न अपमान। सुख देखा न दुःख—धर्म देखा न अधर्म। जो सामने आया, सब किया। धन मिला भी। उसे भोगा भी, पर भोगा नहीं गया। जीवन के रस में बुढ़ापे की किरकिरी मिल गई। इस पुराने चिराग का सब तेल चीकट बन गया। भोगने की होंस भोगों को ढोते-ढोते ही मर गई। रसोई बनाते-बनाते ही भूख मर गई।

चौथे ब्याह की जवान स्त्री है। ब्याह के पहले उसे देखा था। हर्ष के मारे लोहू नाच उठा था। देखते देखते पेट ही नहीं भरता था। पर आज उससे डरता हूँ। उसकी वह कटोरी सी आँखें भूखे की तरह मेरी ओर घूरा करती हैं। जब तक वह घूरती हैं भूल कर भी नहीं हँसती। होठ फड़कते हैं पर मुस्कराते

नहीं। मैंने उसका क्या बिगाड़ा है ? मुझ पर इतनी विष-बर्षा क्यों ? धन, घर, ऐश्वर्य सब कुछ मैंने उसे दिया। यह कहाँ मिलता ? गरीब गाँव की लड़की थी। ये महल ? ये ठाठ, ये दास-दासी कहीं देखे थे ? पर ये सब मानों तुच्छ हैं ? और क्या चाहती है ? मंगल को देखते ही हँसती है, घुलघुल कर उसी से बोलती है—जैसे वह उसका सगा हो ! धवराता हूँ। इज्जत, आबरू, बड़प्पन सब कच्चे धागे में बँधे लटक रहे हैं, और वह कच्चा धागा उसी के हाथ में है। एक ठोकर में सब खत्म हो जायगा—सिर्फ एक ठोकर में। जब तक हूँ दोनों हाथों से पगड़ी पकड़े बैठा हूँ। जमाना नाजुक है। पर मेरे पीछे क्या होगा ? हे भगवान ! यह सब किस मायाजाल में फाँसा ! पर किसी का क्या अपराध है ! सब फन्दे तो अपने ही हाथ से बनाये थे !

जिस सन्तान की लालसा पर चार-चार बालिकाओं का कौमार्य भ्रष्ट किया, वह आज तक नहीं मिली। जिनके पास रहने को जगह नहीं, खाने को अन्न नहीं, उनके घर में दर्जनों बालक होते हैं। मैंने सब कुछ संग्रह किया, सब कुछ है, पर इन्हें सुख से भोगने वाला कोई नहीं है। वर्षों तक रात-रात भर जाग कर, झूठ-सच बोल कर, न जाने कितनों का अधिकार छीन कर, कितनों को नीचे गिराकर, यह तिमंजला 'मरा हाथी' खड़ा किया है, जिसमें मेरे पीछे दिया जलाने वाला भी कोई नहीं है। हाय करम ! लोग रोते हैं कि धन नहीं, धन कैसे मिले ? मैं रोता हूँ, इस धन को, इस जवान सुन्दरी स्त्री को, कहाँ रखूँ ? किसके सिर मारूँ ? कहाँ नष्ट करूँ ? कोई ठौर नहीं ! हाय राम ! जैसे वनता है मन को मारता हूँ, क्रोध को दवाता हूँ, सज्जनता का व्यवहार रखता हूँ, पर फिर भी सब व्यर्थ होता है। कोई

सुजनता से पेश नहीं आता । नौकर लोग आँख देखते चोरी करते हैं और फटकारने पर मुँह भींचकर हँस देते हैं । सब बेअदब हैं । मुनीम गुमास्ते पीठ पीछे खिल्ली उड़ाते हैं । कोई नहीं सुनता—इस कान सुन कर उस कान उड़ाते हैं । सबको जानता हूँ, किसी के हृदय में आदर नहीं, भक्ति नहीं, ममता नहीं । सभी मतलब गाँठ रहे हैं । मैं बूढ़ा क्या खाक हुआ ! धनी मालिक बनकर क्या ऐसी-तैसी की ! सुख नहीं था, शान्ति नहीं थी, इज्जत तो मिलती; बाहर न सही, अपने ही घर में सही ।

कर्जदार दिवालिये हो गये ? बिना अदालत गये चलेगा नहीं । किसकी फिक्र करूँ ? दो विधवा बहनें छाती पर थीं, अब भतीजी भी आ गई । आठ को साठ करते कितने दिन लगेंगे ? वापपने का सुख तो नहीं, दुःख मिला । घर में बरात चढ़ी चली आ रही है । लोग सैकड़ों रिश्ते निकाल लाते हैं । चचा, ताऊ, साला, साले का साला, धेवती के नवासे का जमाई—सब हाजिर हैं । जाने का नाम नहीं लेते । सब खा रहे हैं, विगो रहे हैं । घर लुट रहा है । कुछ प्रबन्ध नहीं । कुछ इन्तजाम नहीं । क्या करूँ ? रात करवटें लेते बीतती हैं और दिन चिन्ता करते । खाने बैठता हूँ तो भोजन मुझी को खाये जाता है । घर में सब कुछ है, पर मेरे लिये मिट्टी है । किसी में मजा नहीं । क्या होगा ? कैसे दिन कटेंगे ? क्या संखिया खाऊँ ? कैसे पार पड़ेगी ? हे भगवान ! हे नाथ ! हे दयाधाम ! तुम्हीं खिन्न हो ! तुम्हीं पार लगाने वाले हो ! तुम्हारे ही आसरे सब कुछ है । हे भगवान् ! हाय राम ! हरे ! हरे !

कर्मयोग

क्या आँख फोड़ देने से देखने की होंस मिट जायगी ? नदी से दूर बाँध कर डाल देने से क्या पीने की इच्छा नहीं रहेगी ? वासना की वस्तु को त्याग कर वनवासी होने से क्या वासना से पिण्ड छूट जायगा ? बेवकूफ हूँ । विरक्ति किस से ? क्या संसार से ? अच्छा, संसार छोड़ कर कहाँ जाऊँ ? घर छोड़ कर वन में जा सकता हूँ, पर इसी से क्या संसार छूट गया ? घर ही संसार है क्या ? कैसी बेसमझी है । “दिल रंगा नहीं उस रंग में, क्या है कपड़े रंगने में ।” सच बात है । क्रोध, काम, लोभ, मोह मन में बसे हैं । इन्द्रियों को उनका चसका लग रहा है । तब वन जाने से इतना होगा कि यहाँ मनुष्यों से द्वेष और लड़ाई है—वहाँ शेर-चीतों से होगी । यहाँ मनुष्यों से प्रेम है, वहाँ पशु-पक्षियों से होगा । बाह रे भ्रम ! क्या मैं सिंह को देख कर डर कर चिल्ला न उठूँगा ? साँप को देखकर क्या मैं उसे अपने वच्चों की तरह छाती से लगा सकता हूँ ? भेड़िये को पास बैठा कर क्या अपने साथ आदर से भोजन करा सकता हूँ ? नहीं । तो सिर्फ कपड़े रंगकर वनवासी होने से क्या होगा ? मैं यदि स्त्री, पुत्र, परिजन और वान्धवों से प्रेम नहीं कर सका, तो अखिल विश्व पर—समस्त विश्व के स्वामी पर—कैसे प्रेम कर सकूँगा ? सब विडम्बना है । छल है, आत्म-प्रतारणा है । सुन्दर प्रशस्त

कर्मक्षेत्र घर है। कायर घर से डर कर वन को भागते हैं। घर तीव्र शस्त्र है। बुद्धिमान् और वीर उसे लेकर संसार को विजय करते हैं। मूर्ख कायर उसकी तेज धार से जख्म खा बैठते हैं। रूप क्या विष है? प्रेम क्या विच्छू है? धन क्या सर्प है? बान्धव क्या सिंह है? अभागे लोग इनका कितने अविचार से त्याग कर देते हैं। भूल है—भूल है—भ्रम है। ज्ञान की प्रथम गुरु माता है। कर्म का प्रथम गुरु पिता है। प्रेम की प्रथम गुरु स्त्री है और कर्तव्य की प्रथम गुरु सन्तान है। व्यवहार का गुरु परिजन है। धर्म के गुरु डौसी हैं। आचार के गुरु मित्र हैं। इस गुरु मण्डली का अपमान करके अभागा पुरुष कहाँ जाता है? मैं घर में रहूँगा। मैं विरक्त बनूँगा। मैं कर्मयोग की दीक्षा लूँगा। मेरी समझ में सब आया—अच्छी तरह आ गया। जैसे कमल का पत्ता पानी में रह कर, पानी में उत्पन्न होकर, पानी से अलग रहता है, मैं भी माया में रह कर माया से अलिप्त रहूँगा। जैसे सूर्य पृथ्वी के रस को आकर्षण करके संसार पर वर्षा करता है, वैसे ही मैं धन, धर्म, ज्ञान, जन, सबको आकर्षित करूँगा और पुनः विसर्जन करूँगा। मेरा है, न मेरा होगा, न मेरा किसी पर दावा है। मैं स्वामी नहीं हूँ, इतनी भूल थी, आज उसे सुधारे देता हूँ। मैं सबका हूँ। इनसे अलग हो ही नहीं सकता। मैं वन्दी हूँ। मुझे स्वतन्त्र होने का अधिकार नहीं है। मैं स्वतन्त्र नहीं होऊँगा। मैं करूँगा, पर पर अपने लिए यहीं। लाभ हो या हानि। मुझे हर्ष न विषाद। जिसका बने-विगड़े उसका बने-विगड़े। मैं क्या मालिक हूँ। मुझे फल की न चाह न खबर। मैं वन्दी हूँ। करूँगा, भागूँगा नहीं। और कुछ मागूँगा नहीं। मैं वन्दी हूँ।

दया

यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है। यह मेरे हृदय का शृङ्गार है। इसकी स्मृति से मन में प्राण संजीवन होता है। मैं यह कार्य करूँगा। यह सच है कि वह मेरा कोई नहीं। वह पापी पतित है। उस पर सभी का कोप है। हाय ! भगवान् का भी कोप है। कुछ उस पर क्रोध करते हैं, कुछ दुरदुराते हैं, कुछ घृणा करते हैं, और कुछ अविश्वास करते हैं। इतना सह कर वह कैसे जी सकेगा ? इससे तो अच्छा यही है कि उसे लोग मार डालें। जिसे ठिकाना नहीं, आश्रय नहीं, उत्तेजन नहीं, प्रेम नहीं, आदर नहीं, वह इस पृथ्वी पर स्वार्थ की हवा में कितने दिन साँस ले सकेगा ? चाहे जो कुछ भी हो। लोग चाहे मुझसे रूठ जायें, पर मैं उसे अवश्य प्यार करूँगा। यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है। यह मेरे हृदय का शृङ्गार है। इसकी स्मृति से मन में प्राण संजीवन होता है। मैं यह कार्य करूँगा।

वह नीच है, अद्धत है, मलिन है, इससे क्या ? क्या उसके शरीर में वही आत्मा नहीं है जो हमारे शरीर में है ? उसके जैसे हाड़-माँस क्या हमारे शरीर में नहीं हैं ? वह ईश्वर का पुत्र है। बिना उसके वातावरण के क्या वह इतना बड़ा होता ? यह वात झूठ है ? अब न सही, पर कभी तो उसने प्यार पाया होगा ! क्या किसी ने कोई ऐसा वच्चा देखा है जिसने माँ की छाती से चिपट कर मधुर दूध न पिया हो ? क्या किसी ने ऐसा

बच्चा देखा है जिसने बाप के लाड़ न देखे हों ? और इसने क्या बचपन को पार नहीं किया है ? आज उसकी यह दशा हुई । प्यार से गया, सुख से गया, घृणा, क्रोध, तिरस्कार की वौछार से मरा जा रहा है । क्या प्यार की प्यास इसके मन से बुझ गई होगी ? एक बार जिसने मिश्री खाई है, क्या वह उसकी मिठास को भूल सकता है ? वही प्यार मैं इसको दूँगा । जैसे प्यासे को पानी पीने से उसके प्राण शीतल हो जाते हैं, जैसे अन्न पाकर भूखों की आँखों में ज्योति आ जाती है, उसी तरह इसे प्यार पाकर सुख मिलेगा । वह मुझे प्यार करेगा । प्यार क्या यों ही मिलता है ? कितने मरे, कितने खपे, मैं प्यार को पाऊँगा । गुणों पर प्यार होता है, ठीक है । उसे प्रेम कहते हैं । एक प्यार चाहना का होता है, उसे मोह कहते हैं । यह प्यार वासनाहीन है, इसमें न गुण देखे जाते हैं, न दोष, न नीच, न ऊँच, न पाप, न पुण्य, केवल दुःख देखा जाता है । चाहे जो हो, चाहे जिस कारण से दुःखी हो, उसे प्यार करना, इस प्यार का एक प्रकार है । इस प्रकार को कहते हैं दया । भगवान् दयालु हैं । दया भगवान् की नियामक सत्ता है । भगवान् के पालन में दया है, संहार में भी दया है । यही दया उसे अतुल्य न्यायी बनाये है । जो न प्यार के, न आदर के, न प्रतिष्ठा के, न काम के पात्र हैं, वे सब दया के पात्र हैं । अच्छी तरह समझ गया हूँ । देखते ही पहचान लूँगा । छुटते ही दया करूँगा । यह देखो, मन में कैसा हर्ष उत्पन्न हुआ, आत्मा में कैसा सन्तोष मिला । यह दयाधन का प्रताप है । हे प्रभु ! मेरे हृदय में दया को स्थायी बना । दया मेरे नेत्रों में बसे । दया मेरे पथ का प्रकाश हो ।

वैराग्य

सबका फैसला हो गया, सबसे सन्धि हो गई। सब झंझट हट गये। सबको छुट्टी है। इन्द्रियों को छुट्टी और मन को भी छुट्टी है। आत्मा और मैं, वस दोनों ही रहेंगे। एक खेलेगा, एक देखेगा। सलाहकार और नुक़ताचीं सब गये। बड़ी सुन्दर व्यवस्था हुई—बड़ी ही सुन्दर। प्राण कैसा स्वच्छन्द हो रहा है ! आहाहाहाहा आत्मा प्रकाशित हो रही है। भीतर से ज्योति निकलती है। मन शान्त बैठा है। अब तक वह सुख कहाँ था ? इसी की खोज में बूढ़ा हुआ ! अब मिला है ? वाह री दुनिया ! वाह रे संसार ! वाह री माया ! वाह री चमक ! अच्छा झाँसा दिया, अच्छा भटकाया, अच्छा उल्लू बनाया, अच्छा फन्दे में फँसाया। समय नष्ट हुआ अलग और बदले में मिला ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, मत्सर ! रामराम ! भगवान् को धन्यवाद है। अन्त में मार्ग मिला तो। वाह ! कैसा सीधा मार्ग है, कैसी शान्ति है, कैसा सुख है ! कुछ चिन्ता नहीं, किसी बात की चिन्ता नहीं। भूख लगी है तो लगा करे, हम क्या करें ? मिलेगा तो खा लेंगे। शीत लगता है तो लगा करे, उसके लिए क्या हम चिन्ता करें ? हम ? नहीं, हमसे यह न होगा। हम किसी के लिए कुछ न करेंगे। हम तो बादशाह हैं।

अरे भोले भाइयो ! यह सब क्या लाये हो ? हम इसका क्या करेंगे ? क्या कहा ? सम्मानार्थ लाये हो ? हो हो हो ! हमें

सम्मान का क्या करना है ? ना, हम न लेंगे । हम क्या भिखारी हैं ? हम वादशाह हैं । तुम्हें लेना हो तो इससे लो । तुम हीन, दीन, दुखिया लोगो ! हाय ! कैसे अभागे हो—काम क्रोध चिंता के ऋणी, लोभ मोह के दास, तुच्छ प्राणी ! आओ, इधर आओ । यहाँ शान्ति है । इधर देखो । अपनी ओर देखो, अपने भीतर की ओर देखो । कुछ मिलेगा ? भटक रहे हो, तरस रहे हो, तड़प रहे हो, अरे अवोधजनो ! किसलिए मिथ्या माया में फँस गये हो ? भ्रम में भटक रहे हो ? तन मन और शान्ति को नष्ट करके कमाने में लग रहे हो ? इतना रुपया क्या करोगे ? इतना क्या खा सकते हो ? इतने बड़े महल क्यों बनाये हैं ? पागल हो ! मूर्ख हो ! राई की प्राप्ति को पहाड़ सा परिश्रम करते हो ? तुम्हें सुख कैसे मिलेगा ? तुम्हारा कल्याण कैसे होगा ? ईश्वर जानता है, तुम भटक रहे हो । जो मनुष्य परिश्रम तो करे ढेर और प्राप्त करे सुड़ी भर, वह क्या बुद्धिमान् है ? यह मत समझो कि जो कमाते हो वह तुम्हारा है । इसी फेर में मरे हो ! तुम इसमें से भोग कितना सकते हो ? वही तुम्हारा है, बल्कि उसमें से भी कुछ अंश । यह सब त्यागो, इन्द्रियों की लगाम छोड़ दो, मन को वर्खास्त कर दो, आत्मा की उपासना करो, अपने आपको देखो—भीतर ही भीतर इतनी क्यों दौड़-धूप करते हो ? व्यर्थ थकते हो । जो है यही है । कस्तूरी मृग की तरह भटको मत । भगवान् तुम्हारा कल्याण करें । ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, तुम्हारे मन में न हो, प्रेम का प्रसार हो, आत्मा की ज्योति तुम्हारी पथ-प्रदर्शक हो । तुम अमर हो, तुम अमृत हो, तुम आत्मा हो, तुम भ्रम हो, तुम शुद्ध बुद्ध मुक्त हो । तथास्तु ।

मृत्यु

तू आ गई ? अभी से ? पहले से कुछ भी सूचना नहीं दी ?
विना बुलाये ? विना जरूरत ? ना, तू लौट जा । अब मैं नहीं
मरना चाहता ।

एक दम सिर पर क्यों खड़ी है ? थोड़ा पीछे हट कर खड़ी
हो । ठहर, जरा मुझे एक सांस और लेने दे । गला क्यों घोट
डालती है ?

वह तू ही थी ? एक बार आँख भर कर तो देख लेने दे,
कैसा तेरा रूप है । तुझे तो कितनी बार पुकारा । मन ने कहा
था, सब दुःखों की शान्ति तेरे पास है । तब तू न आई थी ।
कण्ट मिट गये । अब क्या काम है ? ना । अब मैं तुझे नहीं
चाहता । जा । वे दिन कट गये हैं । कितना लम्बा जीवन-पथ
कटा है । रास्ते भर चाहना ने उकसाया और आशा ने झाँसे
दिये, सिद्धि के नाम पर सदा दो धक्के मिले । मैंने सोचा, जब
चल ही दिया हूँ, तो मंजिल तो तै करनी ही होगी । मैंने झूठ देखा
न सच, पाप देखा न पुण्य, सिद्धि की आराधना की । जैसा बना,
धर्म की हत्या की, आत्मसम्मान को जूते लगाये, स्वास्थ्य को
संखिया दिया, सुख और शान्ति तक को दुर्वचन कहे । अन्त में
सिद्धि मिली है—मिली कहाँ मिलने को सिर्फ राजी हुई है । अब
तू कहती है—“चलो अभी चलो !” ना, अभी नहीं । अभी तो

थाल परस कर सामने आया है। तेरा कसूर नहीं। सारा समय तैयारी में बीत गया। रसोई बनी ही बहुत देर से, इतनी देर से कि बनते-बनते भूख मर गई, जठराग्नि जठर को खाकर बुझ गई, मन थककर सोने लगा। पर जब बन ही गई है, तो खालूँ-जरा चख लूँ। इतनी साधना की वस्तु कहीं छोड़ी जाती है? तू थोड़ी और कृपा कर, अभी जा। मेरी इच्छा होगी तो मैं तुझे पुकार लूँगा। पहले भी तो पुकारा था। अनेक बार पुकारा था। तुझे शपथ है, बिना बुलाये मत आना। दुःख के दिन तो बीत गये, अब किसे मरने की चाह है?

लौट नहीं सकती? किसी तरह नहीं? यह तो बड़ा अत्याचार है। अच्छा, किसी तरह भी नहीं? हाय! मैंने तो कुछ तैयारी भी नहीं की। यात्रा क्या छोटी है? यात्रा में ही जीवन गया, अब फिर महायात्रा? हे भगवान! यह कैसा संसार है? शास्त्र कहते हैं—“यह चक्र है।” अच्छी बात है—चक्र है तो घूमा करे। किसी का क्या हर्ज है? पर यह दूसरों को घुमाता क्यों है? किस मतलब से? किस अधिकार से? यह तो खासी धींगा-मुष्टी है। बड़ा अत्याचार है। जब तक जीओ तब तक संसार, यात्रा, और जीने के योग्य न रहो तो परलोक यात्रा! अभाग जीव केवल नित्य यात्री है, जिसे विश्राम का अधिकार ही नहीं। हाय! पहले यह मालूम होता तो यह महल, यह सुखसाज, ये ठाठ-वाट, यह मोह, मैत्री-व्यवहार क्यों बढ़ाता? इस महल की सफेदी के पीछे कितने दीनों का खून है? इस मेरे विछोने के नीचे कितनों की रोटी का सत्व है? तब यह बात मालूम हो जाती, तो यह सब क्यों करता? तब तो सोचा था—एक दिन की बात तो है नहीं, जो दुःखम्-सुखम् काटलें। मरने वाले मरें।

घर आई लक्ष्मी को क्यों छोड़े ? हाय ! अब उन्हें कहाँ पाऊँ ? उनका व्यर्थ शाप लिया । मृत्यु ! थोड़ा ठहर ! अब यह सम्पदा तो व्यर्थ ही है । ठहर ! इसे उन्हें वाँट जाऊँ जिनके कण्ठ से निकाली गई है । पर उनमें कितने वचे हैं ? कितने भूख से तड़प कर मरे, कितने जेल में सिट्टी काटते मरे । उनकी स्त्रियों ने जवानी में विधवा होकर मुझे कोसा । यह माना कि उन पर मेरा ऋण था । पर यदि उन पर नहीं था—सचमुच नहीं था, तो क्या मुझे उन्हें जेल में डलवा देना चाहिए था ? पिटवाना चाहिए था ? बुरा किया, गजब किया ! हे भाइयो, क्षमा करना । अकेला जा रहा हूँ । मृत्यु ! मृत्यु ! क्या इसमें से थोड़ा भी नहीं ले जा सकता हूँ ? थोड़ा सा, सिर्फ तसल्ली के लिये । क्या किसी तरह नहीं ? हाय ! हाय ! अच्छा मृत्यु ! ले आधा ले ले । इस समय टल जा । सब ही ले जा, पर मुझे छोड़ दे ।

हरे राम ! तुझे दया नहीं है । कैसी निष्ठुर है, मूर्तिमती हत्यारी है । ऊपर क्यों चढ़ी आती है ? ना—ना—छूना मत । हाथ मत लगाना । छूते ही मर जाऊँगा ! हाय ! हाय ! सब यहीं रहे ? मैं अकेला चला । कुछ भी पहले से मालूम होता, तो तैयारी कर लेता । भगवान का नाम जपता, पुण्य-धर्म करता । कुछ भी न कर पाया । विश्राम के स्थल पर पहुँच कर एक साँस भी अघा कर न ली कि डायन आ गई । हे भगवान ! हे विश्वम्भर ! हे दीनवन्धु ! हे स्वामी ! हा—नाथ ! हे नाथ ! हे नाथ ! तुम्हीं हो—तुम्हीं हो—तुम्हीं ।

—:०२०:—

रुदन

अन्त में वह घड़ी भी आ ही पहुँची। मुझे भास गया, कच्चे धागे में तलवार लटक रही है, क्या जाने कब टूट पड़े। हवा के झोके झकझोर रहे थे। मन रोना चाहता था। पर स्थान न था। रात ही को यह विचार लिया था। सुबह जब नीचे उतरा, माता ने कहा—बेटा ! कला को देखना तो, आज वह कैसा कुछ करती है।

मेरा कलेजा काँप उठा। मैंने मन में कहा—क्या घड़ी आ पहुँची ? हिम्मत करके भीतर गया। अन्धेरा था। सारी खिड़कियाँ बन्द थीं। एक मिट्टी का दिया टिमटिमा रहा था। मैंने खाट के पास जाकर देखा—काँप गया। सचमुच घड़ी आ पहुँची थी। मैं एकटक देखना रहा—न धोला, न चाला। माता ने कहा—“बेटी ! देख तो यह कौन है ?”

उसे चैन नहीं था। साँस में कष्ट होता था। उसने उस कष्ट को सहकर मेरी ओर देखा। आँखें सफेद थीं, वे फटकर दूनी हो गई थीं। उन्हीं आँखों में से आँसुओं की धार वह चली। मुझसे कुछ भी न बन पड़ा।

माता ने उसके आँसू पोंछ कर कहा—बिटिया ! देखो तो यह सामने कौन है !

कला ने बड़े कष्ट से कहा—बड़े भैया !

इतने ही में वह हाँपने लगी । उसे दो-एक हुचकी आई । पिता उसे गोद में लिये बैठे थे । उन्होंने गद्गद कण्ठ से कहा—
धवराओ मत भाइयो ! सब भगवान् से प्रार्थना करो, अब तो यह हमारी है नहीं, भगवान् दे जायँ, तो दे भी जायँ !

वे सँभल न सके, रोने लगे । कला उनकी गोद में झुक गई । उसका रंग फक हो गया था । सब झपट कर उस पर लपके । सबने मानो एक मन, एक प्राण, एक स्वर से कहा—कला ! कला !

मैं ठहर न सका । वहाँ से साँस बन्द करके बाहर भागा । बाहर उसके सुसराल के आदमी, उसके पति, उद्विग्न बैठे थे । सब बोले—क्या हाल है ?

मैंने बोलना चाहा—पर बोल न सका । भीतर से रुदन उठा । प्रथम एक कण्ठ, पीछे अगणित—अधाह गगनभेदी रुदन ।

सब ने कहा—क्या हो गया ?

पिता पागल की तरह दौड़ आये । उनकी आँखों में आँसू नहीं थे । उन्होंने गाकर कहा—लुट गया धींग धनी धन तेरा ।

उनके नेत्रों में उन्माद था । दो-चार पड़ोसियों ने उन्हें पकड़ कर धैर्य रखने की प्रार्थना की । उन्होंने करारे स्वर में कहा—मैं क्या रोता हूँ ? मैं क्या बालक हूँ ? मुझे क्या तुम बेसमझ समझते हो ?

मैं यहाँ भी न ठहर सका । भीतर गया । माता ने आकाश फाड़ रखवा था । वह कला के शरीर को छोड़ती ही न थी । मैंने उसे गोद में लिया । पर कुछ बोल न सका । मैं भी रो रहा था । मन को रोका । मैंने कहा—अम्मा रोओ मत । तुम्हारी बेटी का भाग्य कितनों की बेटियों से अच्छा है । वह जहाँ गई, धन-धान्य

लक्ष्मी को लेकर गई। अब वह सुहागन ही पृथ्वी से जा रही है।
ऐसा सौभाग्य कितनी स्त्रियों को मिलता है ?

माँ को कुछ आश्वासन मिला। उसके उन्माद पर कुछ सावधानी के छींटे पड़े। उन्होंने गगनभेदी क्रन्दन छोड़कर कला का गुणगान शुरू किया। अब मैं ठहर न सका। स्मृति ने कष्ट देना प्रारम्भ किया। वचन से अब तक के चित्र सामने आने लगे।

मैं वहाँ से भागा। ऊपर जाते हुए देखा, सीढ़ियों में सुभगा पड़ी टुसुक रही थी। मैं उसे उठा कर ऊपर ले चला ! मेरे छूते ही वह बिखर गई। वह क्रन्दन, वह मर्मस्पर्शी उक्तियाँ, वह भयंकर हाय, सर्वथा असह्य थी। जाती कहाँ ? छाती गले तक भर रही थी। जरूरत रोने की थी, पर रोने को जगह न थी। जगह एकान्त चाहिए। पर उस घर का वायुमण्डल रुदन से भर रहा था। पड़ोस की स्त्रियाँ घर भर में जुट रही थीं। पड़ोसी द्वार पर इकट्ठे हो रहे थे। आश्वासन रुदन को बढ़ाता था। धैर्य का ठीक न था। विकलता थी, जलन थी, सन्ताप था, खिसियाहट थी, अशक्ति थी, लाचारी थी और रुदन था, रुदन था, रुदन था।

लालसा

ना ! उसका नाम नहीं बताऊँगा । लज्जा जीने न देगी । वह नाम जहरे कातिल है । इतने दिन हुए, पर आज तक उससे रोम-रोम जल रहा है । विचार शक्ति छितरा कर बिखर गई थी, बुद्धि पुरानी रई की तरह उड़ गई थी । मेरे सुख और दुःख के बीच वही एक नावों का निर्मूल पुल था । जब मैं लालसा की नदी के किनारे पहुँचा तो देखा—जहाँ मैं खड़ा हूँ उसके चार ही कदम के फासले पर वह पुल है, मेरा कसूर क्या था ? इतने नजदीक पुल को छोड़ कर कौन तैर कर पार करेगा ? पार करने पर—वस वह दिन है और आज का दिन है ।

उस पार जाना जरूरी था । लालसा की नदी बेतरह चढ़ रही थी और किनारे की भूमि उर्वरा हो रही थी । पास में सुख बहुत थोड़ा था । उसने कहा—कुछ तुम्हारे पास है कुछ मेरे । आओ इसे वो दें । एक के हजार होंगे । अभी जिन्दगी बहुत है । इतने से कैसे चलेगा ?

मेरा दिल घावों से छलनी हुआ पड़ा था, न मुझे रुचि थी, न उत्साह, न होंस । इसके सिवा, मुझे वोने का तजुर्वा नहीं था । वोना मेरे प्रारब्ध के अनुकूल भी नहीं था । जब जब बोया, सूखा पड़ गई या वन-पशु चर गये । पशु बने बिना रखाना कठिन है ।

मुझे खूब याद है। मैंने बहुत नाँह नूँह की थी। मैंने कहा था—मुझे कहाँ वोना आता है? क्यों पास की माया को मिट्टी में मिलाती हो? ना, मुझे इसकी होंस नहीं है। लुप्त जाओ।

इसी पर उसने मुझे मूर्ख बनाया। मेरा मजाक उड़ाकर कहा—मूर्ख! देखता नहीं है। ऐसी कितनी बार चढ़ती है? किसके इतने भाग हैं? वोने वाले एक-एक बूँद को तरसते हैं। औसर चूकने पर क्या है? वो—वो—वो!

मैं मूर्ख बन गया। जो कुछ था उसे दे डाला। भूमि उर्वरा थी, वह उगा भी, पका भी और मुझे मिला भी। पर पचा नहीं। शरीर ढेर हो चुका था, इतने दिनों के आँधी मेहों ने कुछ न छोड़ा था। मैं गिर गया खाकर! लोग भूखों मरते हैं, मैं अघाकर मरा। धौले केशों पर धूल पड़ी। बुढ़ापे की मिट्टी खवार हुई। बात बनकर विगड़ी। आवरू की पगड़ी की धज्जियाँ उड़ गई। मेरा क्या अपराध था? साहस में तो कसर छोड़ी न थी। चिन्ता की भयंकर आग इस तरह छाती में छिपाई थी कि एक लौ भी न दीखने पाई। शोक के घाव कपड़ों से ढक लिये थे। चेहरे की झुर्रियों को हँसकर और आँखों की रुखाई को चश्मे से छिपा लिया था। पर हाय रे बुढ़ापे! तेरा बुरा हो। तेरा सत्यानाश हो अठ्यानाश हो। तैनें सब गुड़गोवर कर दिया। तैनें मरे को मारा। तैनें सूखे पेड़ को जड़ से ही उखाड़ पटका, निर्दयी!!

उसे कुछ परवा ही न थी। हँसती थी। उसी तरह बल्कि उससे भी अधिक जोर से। सफलता का गर्व उसके होठों और नेत्रों में मस्ती कर रहा था और यौवन का गर्व उसकी छाती से फूटा पड़ता था। मैं कहाँ तक तन कर खड़ा होता! मैं हार गया। वह सब कुछ ले चली। मैंने घायल सिपाही की तरह

आँखों के अनुनय से रस की एक बूँद—सिर्फ एक बूँद माँगी थी । क्या उस सरोवर में एक बूँद से घाटा पड़ जाता ? जब मेरे दिन थे तो विन माँगे छक जाता था । वही मैं था । वह दुपहरी के सूर्य की तरह ज्वलन्त नेत्र दिखा कर चली गई । कलेजा तक झुलस गया । यही दुनियाँ है । इसी में रहने को प्राणी क्या-क्या करता है । यही दुनिया का अन्त है । जाने वालों के लिये दुनिया का यही प्यार है । वाह रे दुनिया ! और वाह रे तेरा अन्त !!!

मुक्ति

यही है वह । पर न देख सकता हूँ—न समझ सकता हूँ । बुद्धि चरने चली गई, मन का पता नहीं । कठिनता से इतना मालूम होता है कि मैं हूँ, परन्तु कहाँ और कैसा ? न कोई परिधि न रूप-रेखा । न भार न अवकाश । मानों मैं नहीं हूँ । तब मेरा यह ज्ञान किस आधार पर है ? एक ज्योति चारों तरफ फैली देखाता हूँ, पर इसके केन्द्र का कुछ पता नहीं लगता । ज्ञान की सारी गुत्थियाँ सुलझी हुई अनुभव होती हैं, पर वह ज्ञान कुछ समझने में सहायता नहीं करता है । सब को छूता हूँ, सब रसों का स्वाद बराबर आ रहा है, सब स्वर व्याप्त हो रहे हैं, सब गन्ध बस रही हैं । पर किस तरह ? सो पता नहीं लगता । अपूर्व है । सब अपूर्व है । यहाँ सब प्राप्त है । अब मालूम होता है, इच्छा एक रोग था । मन एक बेगार थी । इन्द्रियाँ भार थीं, मूर्ख था । इन्हें खूब सजाया । उल्लू की तरह नाचा । गधे की तरह लदा फिरा और अपराधी की तरह बँधा रहा । ठहरो । मुझे अपने आपको समझ लेने दो । वाह ! मैं क्या हूँ ? जहाँ इच्छा जाती थी, अब वहाँ मैं जा सकता हूँ, जो मन करता था, वह मैं अब कर सकता हूँ । बड़ा मजा है, बड़ा आनन्द है, बड़ा सुख है । कभी नहीं मिला था । मानो मैंने स्नान किया है । या ? ठहरो—सोचने दो, कुछ भी समझ में नहीं आता । मानो तंग कोठरी की कैद से निकल

कर स्वच्छ हरे-भरे मैदान में आ गया हूँ। कही दर्द नहीं है।
 कहीं भी कसक नहीं है। ना प्यास है, न भूख। न उठना, न
 बैठना, न सोना। सब कुछ मानो एक साथ स्वयं हो रहा है।
 प्रतिक्षण हो रहा है। यह क्या है ? इतना तेज ! इतना व्याप्त !
 यह लो, लीन हो गया। जैसे लहर लीन हो जाती है, जैसे स्वर
 लीन हो गया। वह भी मैं हो हूँ ! मैं ! अनन्त में फैल गया हूँ !
 न आदि है न अन्त, न रूप है न स्पर्श—केवल सत्ता है। वह
 शुद्ध बुद्ध मुक्त है। प्यास बुझ गई है। काँटा-सा निकल गया है।
 नींद-सी आ गई है। कुछ नहीं कह सकता। कथन के बाहर है।
 प्रकाश का कण हो गया हूँ। कण का प्रकाश मैं हूँ। व्याप्त
 सामर्थ्य की धार वह रही है—पर क्षय नहीं होती। वह कहीं से
 आ भी रही है। न शीत है न उष्ण, न इधर है न उधर।
 कहना व्यर्थ है। अब अप्रकट कुछ नहीं। प्राप्य कुछ नहीं। महान्
 कुछ नहीं। किसी का अस्तित्व नहीं दीखता। केवल मैं हूँ। मैं
 वही हूँ ! यह वही है। यही है वह।



वह



वह

वह सोने की न थी, इस्पात की थी। पर मैं उसे हीरों के बराबर तोल कर भी बिछो देने वाला न था। बहुत दिन से हृदय-मन्दिर में प्यार और कोमलता की एक ज्योतिर्मयी स्वर्ण-प्रतिमा की खोज में भटक रहा था। स्वर्ण नहीं मिला, प्रतिमा भी नहीं मिली। यह मिली। उस समय वह एक खेड़ी का अनघड़ टुकड़ा था। मिट्टी और पत्थर से मिला हुआ, मैला और बदरंग। मैं उसे उठा लाया, सोचा क्या हर्ज है, स्वर्ण न सही—यही सही, इसी की प्रतिमा बना कर उस मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दूंगा। पर शीघ्र ही समझ गया—यह मूर्खता की बात होगी। मैंने प्रतिमा बनाने का विचार ही छोड़ दिया। स्वर्ण में यदि कुछ बनने की शक्ति है, तो इस्पात में भी तो कुछ बनने की शक्ति है! बुद्धिमानों को जिस पदार्थ में जो बन सके, उससे वही बनाना चाहिए। मैंने उस खेड़ी के बदरंग टुकड़े को भट्टी में डाल दिया। ज्वलन्त उत्ताप में तपकर उसका रंग भी लाल हो गया। फिर मैंने धड़ाधड़ उस पर चोटें कीं। धड़ाधड़। फिर पीटा; फिर तपाया। तह जमाई। तपाया और पीटा। ग्रीष्म की दुपहरी, झुलसाने वाली लूँ और वह भट्टी का असह उत्ताप, जवानी की नंगी छाती पर सहा। पसीना कालोंस और मैल से शरीर भर गया, कोमल स्वच्छ हाथ कठोर हो गये। पर मैं

उस लोहे के टुकड़े के पीछे पड़ गया। जवानी के सारे उमंग भरे दिन उसी कड़े परिश्रम में, ताप-पसीने और कालौस में निकल गये। मेरे कितने ही मित्र, जिन्हें मैंने बाल काल में उस कल्पित प्रतिमा की मोहनी झाँकी करने का वचन दिया था, अपने लिये एक-एक प्रतिमा ले आये थे। वे शीतल वायु के झकोरों से भरी कुञ्जों में मुग्ध और तृप्त होकर उसे हृदय-मन्दिर में लिये बैठे थे। मैंने कभी उनके सुख-सौभाग्य पर अपना मन न ललचाया, कभी उन पर डाह न की। अपने उस खेड़ी के टुकड़े को उनकी हीरों से लदी हुई सोने की प्रतिमा से निकृष्ट न समझा। कारण, मुझे अपने ऊपर बहुत भरोसा था। अपने हाथ की करामात पर मैं इठलाता था। आखिर मैंने अपनी समस्त जवानी में जी-तोड़ परिश्रम करके उस खेड़ी के टुकड़े को इस्पात ही बना कर छोड़ा।

अब कार्य सरल था। आकृति, प्रखरता और उपयोग 'वस। साँचे में ढाल कर मैंने उसकी आकृति बनाई। अब वह एक नाजुक तलवार थी। विजली के समान उसमें चमक थी, धार की प्रखरता का क्या कहना था ! बाल को चीर सकती थी।

उसीको मैंने हृदय-मन्दिर के उस शून्य सिंहासन पर स्थापित कर दिया। उसी की मैं पूजा करने लगा। उसे देख-देख कर मैं धीरे-धीरे वीर और साहसी बनने लगा। राजा और सम्राटों तक उसकी पहुँच हुई और वह उनके हीरों और मोतियों के ढेरों से कहीं अधिक मूल्य की कृती गई !!

सिर्फ अकस्मात् के संयोग की बात थी, और मेरी सनक थी, जो मैंने उसे इतना कमाया, ऐसा प्रखर बनाया। परन्तु मैंने कभी उससे कठोर काम नहीं लिया। उसकी आव और धार को

कभी हवा न लगने दी । मैं सिर्फ उसकी धार से नित्य आँखों में सुरमा लगाया करता था ।

मैंने उसे समय के लिये यत्न से रख छोड़ा था । खयाल था, कभी आन और शान पर जूझने का समय आयगा, तब मेरी यह प्राणों से प्यारी वस्तु अपने जौहर दिखायगी । मेरे प्यारे मित्रों और सहयोगियों की सजीली स्वर्ण-प्रतिमाओं पर जब कोई भयंकर संकट उपस्थित होगा, तो मेरी यह सजीली चीज विजली के समान एक ही तीव्र और असह्य कड़क दिखा कर अपनी वास्तविकता चरितार्थ करेगी । उसी समय मेरा जीवन और परिश्रम सफल होगा !

दो बार देवता उसे माँगने आये, पर मैंने उन्हें नहीं दी । इस संसार की तो किसी वस्तु के बदले में मैं उसे दे ही नहीं सकता था, मैंने उसे लोकोत्तर बदले में भी देने से इन्कार कर दिया ।

उस दिन प्रातःकाल जागकर देखा, वह धरती में दो टूक हुई पड़ी है । पहले तो मैं कुछ समझा ही नहीं । मैंने सोचा, स्वप्न है, उँगली दाँतों से काट कर देखा, बाल नाँच कर देखा ! स्वप्न न था सत्य था !!!

कलेजा मसोस कर बैठ गया । अब कुछ नहीं हो सकता था । मित्र और वन्धु सुनते ही दौड़ आये । किसी ने कहा—लो, यह स्वर्ण-प्रतिमा ले लो । किसी ने कहा—यह मेरे नेत्रों की ज्योति ले लो । किसी ने कहा—यह मेरा सबसे बड़ा होरा ले लो । पर ! पर—खेड़ी का टुकड़ा तो किसी के पास न था । मैंने बैठे ही बैठे—जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी—इधर-उधर नीचे-ऊपर देखा—नहीं था !!

खोजने जाने के अब दिन नहीं रहे । परिश्रम और उत्ताप

सहने की शक्ति और साहस नहीं रहा । आराधना योग्य जवानी न रही । मन के हीसले और चाह मर गये । मैंने वे टूटे टुकड़े देवार्पण कर दिये । अब मैं अकेला बैठा हूँ, और सुस्ता कर जवानी के घोर परिश्रम की थकावट को उतार रहा हूँ ।

हास्य में हाहाकार

जीवन की हँसती हुई दुनिया का अन्त समय आ गया :
ग्रीष्म के कृष्णपक्ष की सन्ध्या की तरह कराली काल की कालिमा
ने उस भव्य मुखमण्डल पर अधिकार जमा लिया । पर वे दोनों
आँखें सन्ध्या के तारे की तरह आनन्द वखेर रही थीं । वह मुझे
देखकर जरा हँसी । प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह अन्तिम वार
उसकी धवल दन्त-पंक्ति के दर्शन हुए । प्यारा का रहा-सहा रस
उस हँसी में आ जूझा । वह दारुण सहायाना की घण्टी हृदय
धाम से सुन रही थी और अपनी स्मृतियों की गाँठ पोटली
सँगवा कर बाँध रही थी । साथ ही सारे संसार ने न सह सकने
योग्य उस वेदना को—वह उस अन्तिम हास्य में टालने की
चेष्टा कर इकतारे के कम्पित स्वर में बोली—“स्नानी, लड़े क्यों
हो, मेरे पास बैठ जाओ ।”

मनोहर थीं। पर मैं उन्हें देखकर डर गया। उसने फिर उसी स्वर में कहा—“स्वामी ! वास्तव में निराशा का नाम ही जीवन है—फिर भी मनुष्य उसे प्यार करता है, मेरे पास बैठो और कहो तुम जीवन को नहीं—मुझे प्यार करते थे।”

मैं कुछ और ही सोच रहा था—मैं सोच रहा था—इस चलती बहती धार में से और एक घूंट पी लूँ ! मैं घुटनों के बल धरती पर वहीं बैठ गया।

साफ-साफ कुछ नहीं दीखता था। मानो महारात्रि आ रही थी। आँधी के झोंकों से कम्पायमान जल की लहरों की तरह उसका श्वास उमड़ रहा था। उसमें न हास्य था न हास्य था—केवल एक अस्फुट ध्वनि थी। चौदह वर्ष का सुपरिचित हाथ ऊपर को उठा—चौदह वर्ष प्रथम मैंने उसे जिस उछाह और प्रेम से पकड़ा था—उससे भी अधिक उछाह और प्रेम से उसे मैंने अपने दोनों हाथों में पकड़ा। पर अब उसमें वह गर्मी नहीं रही थी। रस की बूंद सूख जाने पर भी वह हँसी। अटल अटूट हास्य था। उसमें स्पन्दन नहीं था, संकोच नहीं था, अस्थिरता नहीं थी, परिवर्तन नहीं था। मैं उसी में डूब गया। पीछे से एक हाहाकार उठा—और क्षण भर में घर का वातावरण दिगन्त-व्यापी हाहाकार से भर गया !!!

तत्क्षण

अनन्तकालीन पथिक की भाँति निःशब्द शान्ति शैय्या के पास खड़ी थी और अनन्त मृत्युदर्शक तारे आकाश में अश्रु-विन्दु की तरह चमक रहे थे । उसने अपने जाते हुए जीवन को धन्यवाद दिया और अपने अस्तंगत भाग्य को सराहते हुए कहा—‘आज मेरे सौभाग्य का उत्कर्ष है ।’ और सिर नवा लिया । एक क्षण अपने विछुओं को उसने जी भर कर देखा ।

मैं खो रहा था—पर उन नेत्रों ने ढूँढ़ लिया । अन्तस्तल में घुस जाने वाली मुस्कुराहट उसके अप्रतिम होठों पर आई, उसने क्षीण स्वर में कहा, “अब तुम यहीं बैठे रहना ।”

क्षण भर बाद, जब मृत्यु उसकी तरफ अन्धकार से अपना हाथ बढ़ाने लगी—तो उसने विश्वासपूर्वक उसे थाम लिया ! !

तब से—मेरा जीवन अकेला है, और वह मुझसे अलग है । पर अभी भी वह मुझे प्यार करती है । हमारा सम्मिलन ग्रीष्म और शिशिर के समान परस्पर का प्यासा था और हमारा विछोह केवल मृत्यु न थी । अविश्वासी चाहे जो कुछ कहें, पर न वह प्रेम अभी खर्च हो गया और न उसका व्यवच्छेद हुआ है ।

मैं रोऊंगा नहीं । यद्यपि सब कुछ गम्भीर गर्त में डूब गया है, पर मैं इसमें भूलने वाला व्यक्ति नहीं हूँ । विचारधाराओं से वह दूर है । वह नक्षत्रों को वांच रही है । वह निकट और दूर

से व्याप्त है। प्रशान्त रात्रि के सन्नाटे में उसकी पसन्द का गीत मैं गाता हूँ और वह स्थिर होकर सुनती है।

मेरी विश्वासी आँखें उस पर अचल हैं। परन्तु मोह की मदिरा, जो प्यार ही की तरह मालूम होती है—दृष्टि के नीचे पड़ ही जाती है और मैं अभागा असंयत हो उठता हूँ। परन्तु वे अतीत कण्टकित हाथ और उस मुख से सुवासित वातावरण के ये शब्द—“वैवाहिक जीवन के दो भागीदार—और दोनों परस्पर निर्भर और विश्वासी” मेरे रक्षक हैं। उन शब्दों में ही मेरा समस्त जीवन स्वप्न था और जीवन का कटुतर जीवन उसी से मधुर हो गया था—जैसे मिश्री से औषधि का स्वाद बदल जाता है। एक दिन वे दोनों पुराने हृदय एक ही सम और एक ही स्वर ताल पर फिर विवाह-गीत गायेंगे।

उस दिन

जिस दिन वह पुण्य पाणिपल्लव हाथ में लेकर मैं कृतार्थ हुआ, और उस प्रथम रहस्य क्षण में उसने नीरव उल्लास के साथ प्राणपुष्प चुपचाप मेरे चरणों में धर दिये, तब—विस्मृति-समुद्र में डूबी हुई जन्मान्तर-व्यापिनी पूर्व जन्म की सुकृति की एक अस्पष्ट रेखा पल भर को दीख पड़ी। हृदय के अगम्य गर्भ में छिपा था—सहसा एक क्षण में वह बाहर आ गया। प्राणों से प्राण मिले; खाना, पीना, सोना, पढ़ना, विचारना सब भूल गया। बुद्धि और विचार को छुट्टी मिल गई, कानों में प्रतिक्षण एक गूँज भरी रहती थी। नेत्रों में सदा दिन निकला रहता था। सृष्टि सदा पुष्पवाटिका के समान दीखती थी, जिसमें वही एक पुष्प था—जिसका रूप-रंग और वास मुझे और कुछ देखने न देता था।

परन्तु कैसा आश्चर्य है! एक झपकी के बाद ही आँख खोलने पर कुछ न पाया। जैसे इन्द्रियों को उन्माद हो गया हो। वह दीखती है पर समझ नहीं पड़ती। ये नेत्र दृष्टि से परे हैं, पर कुछ देखते हैं। ये अघोर चक्षु अनन्त से दूर कुछ सुन रहे हैं, पर मैं कुछ समझ नहीं सकता, मैं जड़ हो गया हूँ। फिर भी जीवित तो अवश्य हूँ।

—:०२०:—

न कहने योग्य

हाँ, उस दिन को आज सत्रह वर्ष व्यतीत हो गये। उठती जवानी नीचे को ढह गई। पर वह बात आज तक किसी से नहीं कही है। जिस दिन वह बालिका के वेश में सारे संसार की लज्जा को आँचल में समेटे, अपने वचन और उसके सहचरों को त्याग कर—सहसा जीवन-पथ पर मेरे पीछे चल खड़ी हुई थी, पर उस समय मैं कुछ कहने के योग्य न था। उसके बाद, जब वह स्त्रीत्व के तेज और प्रभाव को लेकर उस दुर्धर्ष जीवन-संग्राम में—जिसमें योग देने की उसकी लालसा को सुन कर मुझे पहिले हँसी आ गई थी—उदग्रीव होकर चली, तब फिर मन में आया कि कह ही दूँ, पर मोह और अनवकाश ने कभी पीछा न छोड़ा। कभी एकान्तता न हुई। कभी अच्छी तरह देख न सका।

जीवन के वर्ष बीत गये, जैसे सपने के दिन बीत जाते हैं, जैसे थकावट की रात बीत जाती है। हम दोनों धुन में मस्त, जवानी की उमंग में झुल्लाते हुए, बढ़-बढ़ कर—एक से एक बढ़ कर—उदग्रीव होने की स्पर्धा करते हुए—बढ़े चले गये, बढ़े चले गये, बढ़े चले गये !!!

एकाएक वह रुक गई। मैंने बहुत हिलाया-डुलाया, पर कुछ न हुआ। गर्दन झुकती ही गई। आँखें मिचती ही गई। वह हँस, वह उमंग, हास्य—गर्व—तेज सब कहीं खो गया ! जैसे इन्द्र-

धनुष खो जाता है। जैसे रवर के गुब्बारे को फूँक निकल जाती है, उस घड़ी वह वात होठों पर ही आ गई थी, पर फिर वह पल भर भी न ठहरी।

अब तो कहने का कोई मौका ही न रहा, पर वह वात अब भी हृदय में वैसी ही घरी है। आँसुओं के साथ वह आँखों में आ जाती है और हास्य के साथ ओठों पर आ खड़ी होती है। मैंने उसे इन सत्रह वर्षों के दीर्घ काल में बड़ी कठिनाई और विवेक से, हिन्दुओं की जवान विधवा बेटी की तरह दबोच कर भीतर ही रख छोड़ा है। हृदय-मन्दिर के अन्तस्तल में उसके स्थान पर इसी को मैंने बसा लिया है। वही अब उसके बाद मेरी जीवन-संगिनी है। वह अपने प्रिय निवास के पात्रों में अपने सुहाग भरे हाथों से लवालव स्नेह भर गई थी, उसमें मैंने दिया जला दिया है। एक क्षण को भी मैंने उसके पीछे उस मन्दिर को सूना और अन्धेरा नहीं छोड़ा है। आँधी और तूफान के झोंके आये, दीये की लौ काँपी—पर बुझी नहीं। आशा होती है, इस दूटती रात की पीली और ठण्डी घड़ियाँ भी, इसी धुँधले प्रकाश के सहारे कट जायेंगी। अभी पात्र में स्नेह है, बहुत है।

जब दिन का प्रकाश फैल जायगा, मैं उसे ढूँढ़ने निकलूँगा। जहाँ मिलेगी, वहीं भेट होते ही अवकी वार पहिले वह वात कह दूँगा। उसे छोड़ कर वह वात और किसी से कहने योग्य ही नहीं है।

आसू

तुमने, मृत्यु के समान ठण्डी और आशा के समान लम्बी निश्वासों के साथ वाहर आकर, उत्तप्त जल-कण क्या पाया ? इतना भी न सह सके ! छीः, आप अधीर बने, मुझे भी अधीर बनाया, आखिर आव खोई ।

तुमने कोमल हृदय के गम्भीर प्रदेश में जन्म लेकर इतनी गर्म और उतावल प्रकृति कहाँ पाई ? और देखते ही देखते आँखों ! आकर एकाएक क्या देख कर पानी-पानी हो गये ? निर्दयी ! हृदय का सारा रस निचोड़ लाये, क्या आँखों के तेज को बुझाने का इरादा था ?

हे अमल धवल उज्ज्वल उत्तप्तजल कण ! हे हृदय के रसीले रस ! ऐसा तो न करो, जब तक हृदय है तब तक उसी में रहो, उसे न निचोड़ो । कुछ अपनी आवरु का खयाल करो, कुछ मेरे प्यार का लिहाज करो, कुछ उस दिन का मान करो—जब रस बन कर रम रहे थे । कछ-उस दिन का ध्यान करो, जब वाहर आकर दुर्लभ दृश्य देखा था । मुझे फिर कुछ देखने की होंस न रहेगी ।

हे आनन्द के उज्ज्वल मोती ! इन आँखों में तुम ऐसे सज रहे हो जैसे हरे-भरे वृक्ष की नवीन रक्ताभ कोपल । पर तुम्हारा ढरकना बहुत करुण है—बहुत उदास है । तुम ढरकते क्या हो;

मानो प्यारों से भरा हुआ जहाज समुद्र में डूब रहा हो। तुम्हारे इस ढरकने का नीरव रव ग्रीष्म की ऊषा के प्रारम्भिक अन्धकार में अधजगे पक्षियों के कलरव के समान उदास मालूम होता है।

ढरक गये ? हाय ! तुम मेरी स्वर्गीया पत्नी के मृदुल प्यार की स्मृति की तरह प्यारे थे। तुम मेरे अनुत्पन्न पुत्र के छोटे से होठों की निर्दोष मुसकुराहट की स्वप्नवासना की तरह मधुर थे। प्यार की प्रथम चोट की तरह गम्भीर और तूफान की तरह जंगली थे।

शरच्चन्द्र

शरच्चन्द्र प्यारे ! आज कुसमय में यहाँ क्यों आये हो ? जाओ, हृदय सो रहा है, आहट मत करो, जाग जायगा । फिर उसे सम्हालना और सुलाना कठिन हो जायगा । इतना हँसते क्यों हो ? निष्ठुर ! यही क्या तुम्हारा सुधावर्षण है ? यही क्या तुम्हारा सौन्दर्य है ? जब दिन थे—तब मैंने तुमसे होड़ बदी थी, तुम्हीं थक कर बैठ गये थे । आज उसी का बदला लेने आये हो ? क्षुद्र ! विपत्ति में उपहास करते हो ? छीः ।

उस दिन गङ्गा के उपकूल पर, जब कलकलनिनादिनी गङ्गा हर-हर करती वही जा रही थी, हम दोनों तुम्हें देख-देख कर कुछ कह रहे थे । वे सब बातें तो अब याद नहीं हैं, पर वह समा तो सुर्मे की तरह आँखों में समा रहा है । हमने समझा था तुम हमें हँसता देख सुख से हँसते हो । पापात्मा ! तुम्हें आज समझा ! अब तो वह दिन चला गया । अब और किसे क्या दिखाने आये हो ? किसे लुभाने का इरादा है ? मूर्ख ! रस में रस है, पर नीरस में रस विष है ।

भागो यहाँ से, तुम्हारी चाँदनी मुझे ऐसी प्रतीत होती है, जैसे मुर्दे पर सफेद कफन पड़ा हो । मैं डरता हूँ, अब और नहीं देख सकता । हटो नेत्रों से दूर हो, नहीं मैं आँखें फोड़ लूँगा ।

अपदार्थ

उस पथ की धूल की अपेक्षा, जिस पर तुमने सौभाग्य की चुनरी ओढ़ कर महायात्रा की थी, मैं कितना अपदार्थ हूँ ! उस विश्वास की अपेक्षा जो तुम्हारा मुझ में था, उस छोटे से पौधे की अपेक्षा, जो दस दिन बाद तुम्हारी चिता पर उग आया था, उस अनथक काल की अपेक्षा, जो तुमसे दूर रहते मैंने व्यतीत किया । और उस आवश्यकता की अपेक्षा, जो तुम्हें जीवन भर मेरी रही ।

मैं कितना अपदार्थ हूँ ! कितना अपदार्थ हूँ !! प्रिये, तुम्हारे सम्मुख तब और अब, मैं सदा ही अपदार्थ रहा !!!

वह सन्ध्या

जब सूर्य धीरे-धीरे जल में डूब रहा था, और तारे उसके स्थान को ग्रहण कर रहे थे। तुम शुभ्र शिलाखण्ड पर पड़ी, तल्लीन हो, उस अस्तंगत सूर्य को देख रही थीं। धवल अट्टालिका और आकाश का रक्त प्रतिविम्ब जल में काँप रहा था।

मैं तुम्हारे निकट आया और तुम्हें कम्पित हाथों में उठा लिया। तुम 'नहीं' न कह सकीं, केवल सलज्ज हास्य में झुक गई।

उस स्पर्श से ही, उसी क्षण—सम्पूर्ण तारुण्य मुझ में जाग्रत हो गया और सम्पूर्ण प्रेम तुम में। उस समय, पृथ्वी भर के पुण्यों के सौरभ को लेकर वायु तुम्हारी अलकावलियों से खेल रहा था।

परन्तु प्रिये, उस सन्ध्या की वह सन्धि कितनी कच्ची थी!!!

उस दिन

उस दिन, जब मैंने तुम्हें ग्रहण किया था—अपना घर-द्वार धन-धरती सब तुम्हें दिया था। मेरी प्रतिष्ठा, आवरू, महत्व, शौर्य सब तुम्हारा हुआ था। मेरी शक्ति, सत्ता, स्वप्न और तेज सब तुम्हें मैंने दिया था, और दिया था अपना प्राण और उसका सर्वाधिकार।

तुमने न आँखें खोलकर उस महादान को देखा, न एक शब्द बोलीं; तुम चुपचाप अपने बहुमूल्य वस्त्रों और प्रच्छिन्न हृदय में उल्लास और आनन्द से तप रही थीं।

वहिनों ने सुगन्धित द्रव्यों से तुम्हारी केशराशि को सींचा और पुष्पों से सेज को सजाया था।

माता ने अश्रुपूरित नेत्र और अवरुद्ध कण्ठ से कहा था—‘मेरा बेटा पृथ्वी विजय कर लाया है।’

हम आतुरता से सोच रहे थे, कब यह वाद्य ध्वनि वन्द होगी, कब रात्रि आयेगी, कब द्वार वन्द करने का धीमा शब्द होगा, और वह चिर अभिलषित रहस्यपूर्ण स्नेह स्रोत का उद्घाटन होगा।

प्रथम बार तुम जब बोलीं—तब तुमने कहा था—स्वामिन् ! कितने लोग आपसे भय खाते हैं और कितने आपके सम्मुख श्रद्धा से अवनत हो जाते हैं। मेरे जीवन के स्वामी, मुझे निर्भय करो,

मुझे अभय दान दो, मुझे अभय दान दो, मुझे साहस दो कि मैं अपनी सबसे प्यारी वस्तु के निकट आऊँ ।

×

×

×

आज मैं अनुभव करता हूँ—प्रेम एक स्वप्न है और जीवन कदाचित् उससे कुछ अधिक !!

—:०२०:—

आत्मदान

तुमने जब आत्मसमर्पण किया था—तब क्या आत्मा का प्रदान नहीं किया था ? अब अन्त में तुम कहाँ विश्राम करोगी ?

तुमने अपना स्वर्ण शरीर मुझे कुछ ही क्षण को दिया, और मैंने पुष्प की भाँति उसे ग्रहण किया, फिर तुमने मुझे त्यागना चाहा—मैंने तुम्हारे चरण चुम्बन किये और तुम्हें बिना बाधा के ही चला जाने दिया ! प्रिये, आत्मदान किसने दिया ? तुमने या मैंने ?

शुभाग्नि

उस चुम्बन की शुभ्र उष्मा से मेरे ही अधरों ने फूँककर आत्मा में आग सुलगाई है, वह आज हृदगह्वर में कैसी जल रही है ! कैसी ज्योतिर्मयी उसकी लौ है ! मैं उससे झुलसा तो जा रहा हूँ, पर उसी के सहारे इस लोक से परलोक तक साफ-साफ देख पाता हूँ ।

इस विनाश और अनन्त वियोग के वाद भी वही कोमल केश गुच्छ, वही मधुवर्षिणी दृष्टि, वही सुवर्ण देह्यष्टि, वही वीणा-विनन्दित स्वर लहरी, वे रहस्यमय, भावावेशपूर्ण मधुरमन्दोच्चारित शब्द, और अस्तंगत सूर्य की रक्ताभरश्मिका उन्मुक्त प्रतिविम्ब !!

ओह, अक्षयपुण्यवती, इस मृत्यु के भिक्षुक का भी कल्याण करो ।

पछवा हवा की तरह

पछवा हवा की तरह एक वार क्षण भर को आओ, जिससे हृदय के सब घाव सूख जायें । मैं जीवन के अन्त तक उस क्षण की प्रतीक्षा करूँगा ।

—:०८०:—

ज्वलन्तः सत्त्व

यह, उस पर्वत की कूट शिखा पर ज्वलन्त सत्त्व क्या है ?
वह क्या जल रहा है ?

वहीं तो सदा चन्द्रोदय होता था और उसकी धवल ज्योतिर्मयी किरणें हृदय के अन्तस्तल तक चाँदनी कर दिया करती थीं। वे तुम्हारे दोनों नेत्र शुक्र और बृहस्पति के नक्षत्रों की भाँति उस चाँदनी में खिले सहस्रों फूलों को जीवन के उत्लास से परिपूर्ण श्वास लेते देखते थे।

देखो, वे फूल अब अन्तिम श्वास तोड़ रहे हैं, वे पूर्ण विकसित हो चुके; वायु ने उनकी गन्ध वखेर दी, मधुप मकरन्द पी गये, कुछ वखेर गये। अब इनकी इसी रात्रि में समाप्ति है। प्रातः-काल तक ये सब झड़कर गिर पड़ेंगे।

—:०१०:—

वह पुष्प

उस पुष्प को तो देखो, सूर्य की किरणों ने उसे छुआ, वह खिल गया। कैसा सुन्दर था, पर एक ही घंटे में देखो वह मुरझा कर झुक गया है। अब वह गिर जायगा।

ओह ! यह जीवन भी ऐसा ही रहा !!

—:०१०:—

अभिलाषा

तुम सुख निदिया सोओ प्रिये, और मुझे कुछ सोचने दो, उन मृदुल अलकावलियों और सुगन्धित श्वासों के सम्बन्ध में जिनसे मेरे चारों ओर का वातावरण ओत-प्रोत हो रहा है, और उस प्रेम के विषय में जिसकी स्मृति हृदय में आज भी वैसी ही है ।

इन फूलों से लदे वृक्षों की सघन छाया में बैठ कर, कलकल बहती हुई गंगा की धारा का यह सौन्दर्य और एक बार देख लूं, फिर तो जीवन के अस्तंगत दिवस के प्रकाश को इस अज्ञात अन्धकार की छाया ढाँपती चली आ ही रही है ।

प्रिये, अपने विशुद्ध अन्तःकरण में मेरे लिये थोड़ा प्रेम और क्षमा अन्त तक बनाये रखना ।

—:०२०:—

निस्तब्धता

प्रिये, मैंने खूब गाया और खूब ही चुप रहा, पर तुमने दोनों में से कुछ भी न चाहा ।

मैं सदा ही अधिक बोला करता था, अब इतनी निस्तब्धता क्या तुम पसन्द करती हो ?

-

अतर्क्य लोक में

उस अतर्क्य लोक में क्या तुम मुझे कभी स्मरण करती हो ?
 उस अनन्त पथ के उस छोर पर, जहाँ प्रवाहित रात्रियाँ बनी
 रहती होंगी—इस लोक के प्रकाश का कोई कण होगा ? उन
 अघोर चक्षुओं और उस स्निग्ध सौन्दर्य का उसके बिना कैसे
 विकास होता होगा ?

हाय, मैं यह नहीं कह सकता कि मैं तुम्हारे प्रति विश्वास-
 नीय हूँ । परन्तु तुम्हारा वह प्राचीन सौरभ मेरी रक्षा करता है ।
 कितने दिन-रात और वर्ष व्यतीत हो गये हैं और हो रहे हैं, परन्तु
 तुम मेरे हृदय के वैसी ही निकट हो । तुम क्या अब भी अपने
 हृदय में मेरे विचार रखती हो ? तुम छिप गई हो । पर मैं
 तुम्हारी स्मृति का स्वप्न-सुख तो पाता ही हूँ ।

यद्यपि बहुत से फूल फूलते और तारे चमकते हैं । पर मैं तो
 तुम्हारे उन विषादपूर्ण नेत्रों का सदा जाग्रत स्वप्न देखता हूँ, जिन्हें
 मैं कभी नहीं भूलूँगा ।

प्रिये, ठहरो, मेरा जीवन और यौवन खिसक कर तुम तक
 आ रहा है ।

—:०२०:—

एक किरण

प्रेम रूपी ऊषा की एक किरण फूटी, और जीवन जगत पर छाये हुए अन्धकार पर प्रकाश की एक क्षीण रेखा पड़ी। जीवन जाग उठा, जैसे ग्रीष्म के प्रभात में गुलाब खिल उठता है। परन्तु भोगवाद एक वादल का टुकड़ा बनकर आया और प्रभात का विकास होते-होते समस्त आकाश मेघान्छादित हो गया।

तुम कब से मेरे हृदय के निकट थीं, मुझे कुछ भी स्मरण नहीं। उसी ऊषा के क्षणिक प्रकाश में मैंने तुम्हें अचानक देखा, तुम सो रही थीं। तुम्हारी स्निग्ध आँखें कुछ बन्द थीं और ओष्ठ सम्पुट थोड़ा खुला था।

तुम प्रत्येक प्रश्वास के साथ मेरा नाम ले रही थीं, क्षण-क्षण में तुम्हारे मुख पर लाली और आनन्द की प्रभा फूट पड़ती थी— मैं तुम्हारे स्वप्न सुख को समझ रहा था।

तभी, भोगवाद ने ठण्डी और नन्हीं बूंद गिराई और तुम्हारी आँखों और होठों की मनोहरता शोकपूर्ण हो गई।

आह, मैंने तुम्हें यह भेद कभी नहीं बताया कि मैंने तुम्हें गोद में नेकर जगाने की कितनी चेष्टा की थी।

—:०२०:—

तुम कहाँ हो ?

तुम कहाँ हो ? तुम्हारा सौरभ और सौजन्य भी क्या तुम्हारे साथ है ? मैं वायु के झोंकों से तुम्हारा पता पूछता हूँ; मेरा हृदय टूट गया है, लेखनी घिस गई है और भाव बिखर गये हैं। लोग मुझे देखते हैं पर समझ नहीं पाते। सन्ध्या होते ही ज्वाला का ज्वार उठता है और मैं वेदना में डूब जाता हूँ।

—:०६०:—

बसन्त प्रभात

पक्षी और मनुष्य तो जग गये ।
पक्षी चहचहा रहे हैं,
युवतियाँ गा रही हैं ।
गो-दोहन हो रहा है ।
मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठा हूँ ।
उठो प्यारी, उठो !
धूप तो फैलने लगी ।

ओह, आकाश का नील वर्ण कैसा उज्ज्वल है !

सरसों के खिले फूलों की महक लेकर हवा इधर को आ रही है ।

प्रिये, क्या तुम आ रही हो ?

वह कौन प्रस्फुटित वालिका जल की गगरी वगल में दबाये जा रही है ?

वह कौन प्रमदा पुत्र को हाथों में उठाकर उसका चुम्बन गमनोद्यत पति से करा रही है ?

अरे ! यह तो तुम्हारी सखी.....

ओ प्रिये, जरा देखो तो, ये सन्ध्या को फिर मिलेंगे ।

वह दूल्हा किस सजधज से ब्याहने जा रहा है; साहलग तो लग गया ! स्त्रियाँ घर-घर गीत गा रही हैं ।

ये चट्टानें शताब्दियों से मिली हुई हैं, फिर प्रिये, क्या हम नहीं मिलेंगे ?

यदि तुम न आओगी तो आनन्द के अतीत की स्मृति कैसी शोकमयी बन जायगी ?

वसन्त

प्रिये, वसन्त आया है। सारे पत्ते झड़ गये हैं; और वृक्षों में नई कोंपलें निकल आई हैं।

हूवह तुम्हारे उत्फुल्ल हास्यपूरित अधरोष्ठ की भाँति यह गुलाब खिला है। यह फूल से भरी डाली तुम्हारे शोभनीय मृदुल गात की भाँति झूम रही है। मैं इसे छुँगा नहीं। पर मैं यहीं बैठा रहूँगा, जब तक यह सूख कर झड़ न जाय।

—:०२०:—

पथिक

ज्येष्ठ बीत रहा है।

कैसी दुर्धर्ष दुपहरी है।

ज्वलन्त सूर्य से पृथ्वी तप रही है।

घास सूख गई है, और वनस्पति मुझा रही हैं। चील अण्डे छोड़ रही है, तमाम रात गीदड़ रोते हैं, जगत भयानक प्रतीत होता है, प्राणियों के प्राण मुँह को आ रहे हैं।

सामने यह किसका मनोरम उद्यान है ? कैसा शीतल और मीठे पानी का झरना वहाँ बह रहा है ? ये सघन कुंजें किसने बनाई हैं ? उधर की आई हुई वायु का स्पर्श कैसा प्राणों को हरा कर देता है । वह पुरुष धन्य है जो इस उत्तप्त ग्रीष्म में ऐसी हरी-भरी निकुंज में वास कर रहा है ।

लो, सन्ध्या हो गई । दिन का प्रकाश बुझ गया । सम्मुख वह अग्निज्वाला ऐसी मालूम होती है जैसे किसी क्रुद्ध रक्तपिपासु जन्तु की लाल-लाल आँखें ।

दूर जंगल में कोई पशु चिल्ला रहा है । आकाश में तारे उदासीनता से टिमटिमा रहे हैं ।

प्रिय स्मृतियाँ हठात् उदय हो रही हैं ।

ओह ! तब रात्रि कितनी स्निग्ध प्रतीत होती थी; परन्तु वह कितनी शीघ्र समाप्त हो जाया करती थी ।

वे सुगन्धित अलकावलियाँ उन निमीलित नेत्र सम्पुट पर लालायित स्वच्छन्द ओष्ठाधर, और.....और.....हाय, अब उसे स्मृतिपथ से दूर करना ही अच्छा है । इस एकान्त अन्धनिशा में ।

मेरे नेत्र निष्प्रभ हो रहे हैं और मेरा ज्ञान नष्ट हो रहा है । प्रिये, उस सुख स्वप्न की आशा में, तुम्हारे चिरलुप्त नेत्रों के प्रकाश में मैं एक झपकी लिया चाहता हूँ; किन्तु, यदि आज की रात्रि में मेरे जीवन का अन्त होता तब—जब मैं अनुभवित—तुम्हारे स्वीकृत प्रेम का स्वप्न देख रहा होऊँ ।

मैं अकेला हूँ, मेरी यात्रा समाप्त हो चुकी है, आज की रात्रि यहीं विश्राम करूँगा । अभी भग्न दीवार की इस छाया में बैठकर मैं थकान उतार रहा हूँ । इस चटखती हुई चमेली की छाया में,

जहाँ सूखे हुए फूल झड़े हैं। यदि मुझे विश्राम का स्थल मिल जाय तो कैसा ? मेरी समस्त स्मृतियाँ उन सूखे पुष्पों की भाँति झड़ जायँ तो कैसा ?

मुझे प्रतीत होता है कुछ अज्ञात निर्मम वस्तु मेरे कण्ठ में हार बनकर लटक रही है। कोई निर्दय शक्ति सूर्यमण्डल में विना लज्जा और भय के हँस रही है।

किन्तु प्रिये, उस पुरुष के लिये यह सब क्या है जो कव का नष्ट हो चुका है।

मैं यह सोच रहा हूँ। जब जीवन की पूर्ण कलाएँ विकसित हो रही थीं, एक मनोरम पारिजात कुसुम की भाँति वह खिल रहा था, शोभा और सौरभ फूट-फूट कर वह रहा था, तब प्रेम कहीं से आ गया और उसने क्षण भर ही में सब कुछ विनष्ट कर दिया।

मैं अकेला बैठा हूँ !!

मैं वासना त्याग चुका हूँ, प्रेम की याचना करने का भी अब साहस नहीं कर सकता। मुझे अब प्यार नहीं, जरा-सा विश्राम भर चाहिए—किन्तु उस श्वास और स्पन्दनहीन शीतल वक्ष के निकट।

आन्नी

प्रिये, अपने उस स्निग्ध प्यार की एक कण मेरे लिये भेजो ।
अथवा मुझे मरने दो ।

इस सुनसान घर में सुखद स्मृतियाँ सो रही हैं । कभी-कभी
तुम्हारी अस्पष्ट पदध्वनि सुनाई पड़ती है । क्या तुम आ रही
हो ?

प्रतिदिन प्रभात में उठकर मैं आशा करता हूँ कि तुम
आओगी । मैं दिन भर प्रतीक्षा करता रहता हूँ, रात होती है
और मैं प्रतीक्षा करता हूँ । आकाश में एक अस्पष्ट छाया मुस्कुरा
कर सिर हिला देती है । यह हमारा चिर परिचित स्थान—जहाँ
हमारे हास्य और जीवन के रहस्य नग्न हुए थे—प्यासे राक्षस की
भाँति मेरे रक्त और आँसुओं को पी रहा है ।

क्या तुम न आओगी ? हाय, यह तुम कैसे सहन करती हो !
एक बार आओ, केवल एक बार । मरने से पूर्व एक बार तुम्हारा
स्नेह-सुधा पीने और सुखद गोद में अन्तिम श्वास लेने की अभि-
लाषा है ।

जल्दी, प्रिये, जल्दी ! जीवन की लौ जल चुकी है और अब
वह बुझ रही है ।

—०८०—

तारों की छाँह में

तारों की छाँह में जब तुम सोती थीं, मैं तुम्हें निहारता था । तुम्हारी केशराशि की सुगन्ध को लेकर वायु बहा करती थी और मैं उस गम्भीर सुख में मग्न बैठता था । तुम सोती हुई कैसी मोहक लगती थीं ।

अब भी मैं तुम्हें तारों की छाँह में उसी तरह प्रतिदिन सोती देखता हूँ, पर वह सुगन्धित वायु मानो मुझ से दूर ही दूर मँडराती है । मैं उसे स्पर्श नहीं कर पाता ।

प्रभात में पुष्प की प्रत्येक पंखड़ी में मैं उस सुगन्ध को ढूँढ़ता हूँ । वायु के प्रत्येक परमाणु में खोजता हूँ, पर नहीं मिलती ।

मुझे अब भस्म होना है और परमाणु रूप होकर उसे खोजना है ।

सुखद नींद

ओह, इस प्रकार चुपचाप इस एकान्त में ऐसी सुखद नींद सोना कैसा अभूतपूर्व है !

न साथी न सँगाती । अकेली—केवल अकेली । पर प्रिये; इतनी एकान्तप्रियता बड़ी भयानक है । ऊषा का उदीयमान प्रकाश और सन्ध्या का वृद्धिगत होता हुआ अन्धकार इस प्रसुप्त अनिन्द्य यौवन के इस पार से उस पार तक चला गया । विष्णुपादामृत ने अलकावलियों से क्रीड़ा की; प्रकाश की उज्ज्वल किरणों ने उन अधर सम्पुटों को चूमा, लज्जा की लाली आई और गई, पर वह निद्रा फिर न टूटी ।

कदाचित् यह वासन्ती वायु का उन्मत्त झोंका इस सुखद नींद को भंग करे ।

प्रत्येक ज्येष्ठ को

प्रत्येक ज्येष्ठ के उत्ताप में मैं भनता हूँ । उस दिन को कितने दिन बीत गये, जब तुम्हारे हाथ का शीतल जल पिया था । प्रत्येक रात को तुम्हारे उसी प्रश्वास से सुरभित वायु मुझे थपकियाँ देकर सुलाना चाहती है । परन्तु वह जल.....वह शीतल जल.....

प्रेम का रस सुख जाने पर मनुष्य रोते हैं, पर कितने उसके विषय में सोचते हैं ।

—:०२०:—

वेदना

हृत्पटल के उस घाव की वेदना पर, जो अब पुराना पड़ गया है, क्या तुम द्रवित होती हो ? मैं प्रतिक्षण, प्रत्येक श्वास में उसी वेदना के सहारे जी रहा हूँ, जैसे अफीमची अफीम की कड़वी चुस्की पीकर जीता है । वह वेदना अफीम ही की भाँति कड़वी और ज्ञानतन्तुओं को सुन्न कर देने वाली है । उसके नशे की झोंक में मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि हृदय सरोवर में अकेला ही एक कमल पुष्प खिला खड़ा है, तब मैं सोचता हूँ—मेरे समान भाग्यशाली इस पृथ्वी पर कौन है !

—:०२०:—

स्वप्न

अभी मैं तुम्हारा स्वप्न देखकर उठा हूँ । उस स्वप्न को देख कर मैं व्याकुल हो उठा हूँ । वे तुम्हारे स्निग्ध नेत्र और सजीव अलकावलियाँ मैंने अभी देखी हैं । आह, स्वप्न एक मिथ्या वस्तु है, परन्तु मैं उसे तुम्हारे ही समान प्यार करता हूँ । वे कितने शीघ्र खो जाते हैं जैसे तुम खो गईं । पर प्रिये, मेरे जीवन की आशा डोरी उसी स्वप्न-राज्य में होकर तुम तक पहुँचती है ।

—:०२०:—

सिर्फ एक बार हँस कर

अस्तंगत सूर्य के रक्ताम्बर में धीमे टिमटिमाते तारों के समान उन नेत्रों से एक चितवन फेंक कर तुम एक बार हँसी थीं । और तब मैंने अपने जीवन के समस्त उल्लास के साथ दौड़कर कहा था—ठहरो तनिक ।

पर तुम ठहरीं नहीं । तुम किस लोक में हँसने को चली गईं ? सिर्फ एक बार हँस कर !!

—:०२०:—

जीवन पथ पर

मैं जीवन पथ पर बड़े उल्लास से चला, पर शोक मेरा साथी हो गया, भय और वेदना उसके साथ थीं। मैंने उन पर विश्वास किया और वे अपने मार्ग पर मुझे ले गये। उनके नेत्रों में आशा की ज्योति देखकर मैं ठगाया गया। अब देखता हूँ आनन्द और उल्लास यहाँ से बहुत दूर हैं। वह वेदना अब मेरे हृदय को खाती है और भय ने मुझे अन्धा कर दिया है।

—:०६०:—

स्मृति

मैं तुम्हें कभी नहीं भूल सकता, कभी नहीं।
जीवन के प्रत्येक सौन्दर्य-स्थल में तुम्हारी स्मृति लहरा रही और उसका अकस्मात् स्पर्श होते ही हृदय में घाव हो जाता है। जहर से बुझी हुई वर्षों की भाँति तुम्हारा नाम कलेजे के भीतर तक घुस जाता है।

—:०६०:—

उपहार

आकाश के इन तारों का एक हार तुम्हारे लिये बनाया जाय तो कैसा ?

आज तुम्हारी सेज पर पृथ्वी भर के फूल चुन दिये जायँ तो कैसा ?

परन्तु तुम यदि इन फूलों और तारों में खो गईं तो ???

—:०२०:—

केवल रात्रि में

मैं केवल रात्रि में ही जीता हूँ । तुम्हारे स्वप्नों के सहारे । जीवन मेरे लिये श्वास लेना मात्र है ।

एक दिन, एक घड़ी, एक क्षण के लिये अपना प्यार फिर मुझे दो ।

उल्लास जला जा रहा है । और मैं उसकी प्रतीक्षा में हूँ— उसे मुझे दो । यदि मैं उस घड़ी, उस क्षण के पूर्व ही मर जाऊँ तो फिर तुम्हें कभी यह कष्ट न करना पड़ेगा ।

—:०२०:—

अगम्य के प्रति

मेरा रक्त शीतल हो गया है, प्रिये क्या तुम प्यासी हो ?
किन्तु, इस अनन्त मरुदेश में हम तुम परस्पर कितनी दूर हैं ।

इस उष्ण वालुका पर पतन होने से पूर्व सिर्फ एक बार उस
स्वप्न चुम्बन की, उस अमृत बिन्दु की आशा करना कितना
दुस्साहस है !

क्या फिर सम्मेलन होगा ?

ओह, प्रेम और आकांक्षा से दूर, अतिदूर वह तुम्हारा स्वर्ण
प्रतिबिम्ब कैसा अपूर्ण है ! वह स्थिर है, किन्तु.....

—:०२०:—

सूर्यास्त

कैसी उदासी से सूर्य अस्त हो रहा है । उन रक्त वर्ण बादलों
में चुपचाप खड़ीं तुम, मुझ खिन्न-खंडित और व्यथित की विदाई
के सन्देश का संकेत करती हुई कहाँ जा रही हो ?

—:०२०:—

वह अमावस्या

वह अमावस्या, जिसके अन्धकार के भाग्य में चन्द्र-किरण की एक रेख भी नहीं सिरजी गई, कितनी निर्मम हो सकती है ! जैसे एक पाषाण प्रतिमा, जिसमें न हृदय का स्पन्दन है और न श्वास का अवकाश । केवल एक आकृति है जो काली होती हुई भी रात्रि की स्मृति की भाँति प्रिय प्रतीत होती है ।

—:०२२०:—

तीव्र मद्य

किस तरह स्मृति की उस तीव्र मद्य ने मन को उन्मत्त बना रखा है । मैं तो सब कुछ खो चुका, भय है अब कहीं स्वयं न खो जाऊँ । पर अपने विषय में कुछ सोचने का तो मुझे अवकाश ही नहीं है । मैं सोचता हूँ—वह कुछ तो कहेगी, मुस्करायेगी, अथवा—टप से एक वूँद अमल धवल उत्तप्त जलकण अपने अभ्यास के अनुसार चुपचाप गिरा देगी ।

—:०२३०:—

झरोखे से

जब धूसरित सन्ध्या का क्षीयमाण प्रकाश तमाम जगत् को धुँधले अन्धकार में डूबता अरक्षित छोड़ जाता है, तब तुम उस सुदूर तारे के झरोखे से मुझे भटकता देख कर क्या समझती होगी ?

—:०६०:—

नेत्रों का प्रकाश

कलाधर की स्निग्ध ज्योत्स्ना आकाश में खिली हुई है और रात दूध में नहा रही है। पर जब तक तुम्हारे नेत्रों का प्रकाश मेरे नेत्रों में ज्योति बनाये हुए है, मुझे किस प्रकाश की जरूरत है !

—:०६०:—

ऊषा

अभी ऊषा का उदय भी नहीं हुआ। ठण्डी हवा का यह झोंका लता गुल्मों को हिलाता और वृक्षों को झकझोरता हुआ अपनी राह जा रहा है। रात्रि का अन्धकार और शीतलता अभी है।

वह कौन पक्षी शोकपूर्ण स्वर में आने वाले दिन का स्वागत कर रहा है ?

—:०६०:—

धूल

ओह, उन चरणों के निकट की धूल कितनी सुखी है, इसमें से एक कण इधर उड़ कर आने दो प्रिये, मैंने उसके लिये कब से आँखें बिछा रखी हैं।

मुझे उन शीतल चरणों के चुम्बन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था—अब मैं उस रजकण को चूमकर ही यह साध पूरी करूँगा।

—:०२०:—

वह मधुर चितवन

ओह ! वह मधुर चितवन। वे नेत्र, जो अस्त होते हुए सूर्य के से प्रतिबिम्ब, रक्ताम्बर के छोटे से तारे के समान थे, क्या मैं कभी उन्हें स्वप्न में देखने का साहस भी न करूँ ?

उस दिन, तुम मुझे देखकर मुस्कुराई थीं, तब मैं अपने जीवन के समस्त उल्लास के साथ दौड़ा था और कहा था—ठहरो ! पर तुम किस लोक में हँसने की चली गई ? सिर्फ एक बार हँस कर।

—:०२०:—

असहनशीलता

अपनी असहनशीलता पर मैं हाय करता हूँ । पर प्राणी मात्र के सम्मुख मैं दया का भिखारी हूँ । जब लालसा की नदी चढ़ती है, मैं यत्न करके भी धीरज खो देता हूँ । ग्लानि और अनुताप के हिलोरो के थपेड़ों से जब बेसुध होने लगता हूँ, तब सिर पर पैर रख कर उत्तम पथ पर दौड़ता हूँ ।

—:०९०:—

चिताभस्म

इस शरीर के चिता पर भस्म होने के दिन निकट चले आ रहे हैं । किन्तु, भस्म होने के बाद भी क्या मृत्यु की भावनाएँ और स्मृतियाँ ऐसी ही प्यारी मालूम होंगी ?

जब चिता की अग्नि ठण्डी पड़ जायगी और वायु के झोंके उस भस्म को उड़ा ले चलेंगे, और शृगाल हाऊ-हाऊ करके इसके चारों ओर नृत्य करेंगे, तब क्या तुम इस दृश्य पर दृष्टिनिक्षेप करोगी ? क्या तुम्हारी तनिक भी सहानुभूति मुझे प्राप्त होगी ?

—:०९०:—

जल और रजकण

देखो, जल और रजकण किस तरह परस्पर प्रेम में मग्न हैं । जल तो वहा जा रहा है और रजकण आर्द्रभाव से पीछे लुढ़क रहा है । सुना था रजकण में स्नेह का सर्वथा अभाव है ।

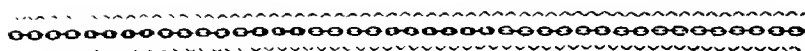
निश्चय ही कहीं कुछ छिपा है । वहाँ, जहाँ आकाश जलराशि में डूब जाता है, यह रजकण पहुँच कर अवश्य ही कुछ प्राप्त करेगा ।

—:०२०:—

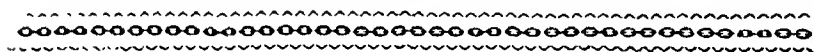
खेल

मैं खूब सावधानी से खेला, पर भाग्य ने साथ न दिया ।
वाजी अन्त में 'मृत्यु' के हाथ रही !!

—:०२०:—



माँ



माँ

मेरा जीवन और प्राण तुम्हारे प्राणों का एक कण था
उसे पाकर मैंने अपना निर्माण किया । तुमने रक्त से रक्त दिये
और शरीर से शरीर । वह चिर काल तक तुम्हारे सुन्दर शरीर
में एक अप्रतिम धरोहर की भाँति धरा रहा, और अन्त में तुम
उसे अनायास ही छोड़ कर चली गई मेरी माँ !!

—:०२०:—

आदान-प्रदान

तुमने मुझे जन्म दिया और मैंने तुम्हें मृत्यु । तुमने मुझे
जीवन दिया और मैंने तुम्हें जरा । तुमने मुझे जीवन दिया और
मैं तुम्हें कुछ भी न दे सका । तुम मेरी ओर देखती ही चली गई,
माँ, मुझसे क्या तुम्हारी कोई भी अभिलाषा न थी !!

—:०२०:—

वार्धक्य विजय

यौवन ने अनगिनत आक्रमण किये, पर वह शैशव को परास्त न कर सका; तुम्हारा वरद हस्त उसके मस्तक पर था। परन्तु ज्योंही उस पर से उस पाणि की छाया लोप हुई, वार्धक्य ने उसे अनायास ही विजय कर लिया ! माँ, यह वार्धक्य अब मुझे मृत्यु की ओर ले जा रहा है।

—:०२०:—

फूलों की रानी

तारों से भरी रात में—माँ, जब तुम मेरी छोटी सी खटिया के निकट बैठ कर, फूलों की रानी की कहानी सुनाती थीं, और जब सुनहरी घोड़े पर सवार होकर वह राजकुमार आता था तो मुझे ऐसा प्रतीत होता था जैसे मैं ही वह सुनहरी घोड़े का सवार राजकुमार हूँ। उस समय मैं एक वड़े से तारे में दृष्टि जमाकर कहता—माँ, क्या वह राजकुमारी इस तारे से भी दूर है ? वह कैसे आ सकती है ?

तब तुम दुलार से मेरे सिर पर हाथ फेर कर कहतीं—हाँ, भैया, वह बहुत दूर है । पर जब तुम बड़े होंगे तब उसे लाओगे । तब ढोल बजेंगे, और बाजे-गाजे की धूम-धाम होगी ।

मैं उस फूलों की राजकुमारी की बहुत सी बातें पूछता-पूछता तुम्हारी गोद में सो जाता । और तुम हँसी को होठों की कोर में छिपातीं, धीरे-धीरे मेरे सारे शरीर पर प्यार का हाथ फेरती हुई न जाने क्या-क्या कहे ही चली जाती थीं, कहे ही चली जाती थीं ।

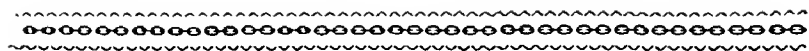
समय आया और मैं राजकुमारी को बाजे-गाजे के साथ ले आया । पर जब देखा तो मालूम हुआ कि वह फूलों की न थी, सोने की रानी थी । परन्तु उस दिन जब मैंने उस राजकुमारी को चिर विदा दी, तब एकाएक देखा—वह फूलों ही की रानी थी, वह फूलों ही से लद रही थी । उस दिन तुमने भी तो माँ, अपनी आँखों से उस पर फूल बरसाये थे ।

—:०२०:—

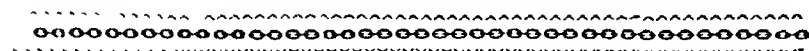
कहानी

तुम कितनी कहानी कहती थी माँ, उसकी अब एक विस्मृत स्मृति ही बची है; परन्तु अब तो मैं धीरे-धीरे स्वयं एक कहानी बनता जा रहा हूँ माँ !

—:०२०:—



स्फुट



प्यार

प्यार प्यारे, जबसे तूने हृदय में वास किया, आत्मा जाग उठी। मन मौज में रम गया और संसार सुन्दर हो गया। जो नहीं देख पड़ता था, वह दिखाई देने लगा। वस, अब तुझे ही देखने की अभिलाषा बाकी रही है।

मद्य और मादक पदार्थों से मुझे घृणा है। मुझे भय है कि कहीं तुझ में उसका सम्पुट तो नहीं है। मद में मत्त पुरुष को मैंने जैसे झूमते देखा है, तेरी लहर मन में आते ही वही हाल मेरा हो जाता है। लाख रोकने पर भी मैं असम्बद्ध, असंयत हो उठता हूँ। हजार सावधान रहने पर भी मूर्ख बन जाता हूँ। आँखों से प्यारी चीज जगत में क्या है? सुना है तू अन्धा है, तब तू सौन्दर्य की ऐसी अमोघ परीक्षा कैसे कर लेता है? तू स्वयं ही कैसे अनिन्द्य सुन्दर बना हुआ है? जगत का सौन्दर्य क्या देख कर तुझ पर रीझ जाता है? आश्चर्य है! सुना है, तू अन्धों को दिखाई देता है। इतना तो मैं भी कह सकता हूँ कि जब तेरी लहर आती है, तब-तब मुझे कम दीखने लगता है। अँधेरा, उजाला, नर्म, सख्त, नीचा, ऊँचा, ठीक-ठीक नहीं मालूम देता, सब एक सा हो जाता है। मुझे भय है, सच कह, क्या तुझ में मद का सम्पुट है? यदि ऐसा हो, तो तू चाहे जितना प्यारा क्यों न हो, मैं तुझे न चाहूँगा। खेद है कि मुझे मद से घृणा है।

—:०२०:—

सुख

उसका कोई रूप न था । वह केवल एक अछूती कल्पना थी; जिसका अस्तित्व ओस की बूंद की भाँति था जो छूते ही खो जाती है ।

मैंने उसकी चाहना की । मैंने समझा वह प्यार का मतवाला भौंरा है, मैं प्यार की पुतली को खोज लाया और अपने प्राण उसके अर्पण कर दिये—पर वह नहीं आया । मैंने धन की राशि संग्रह की और अपना मनुष्यत्व उसे अर्पण किया—वह फिर भी नहीं आया । मैंने विचार कर देखा—वह ज्ञान का गाहक है, मैंने ज्ञान के कपाट खोल दिये और भावना की सारी कोमलता उसे अर्पण की—वह तब भी नहीं आया । मैंने अच्छी तरह फिर सोचा वह अवश्य यश का दास है । मैंने यश संचित किया—और जो उसके अर्पण कर दिया, पर वह नहीं आया—नहीं आया !!

उसके बाद, उस दिन मैं चुपचाप बैठा था, तब आधी रात को समय वह आया । वह हँस रहा था; उसने मेरे चरण चूमे और मुझे गोद में लेकर बैठ गया ।

मैंने मान करके कहा—अभिमानि अब किसलिये आये हैं ?
ले जाओ, मैं तुमसे घृणा करता हूँ ।

उसने कहा—क्या तुमने कभी मुझे बुलाया था ?

—पापिष्ठ, मैंने जीवन भर तुझे खोजा, उस नववध के आचल

में, उस धन की राशि में, उस अगाध ज्ञान में, धवलय-शोराशि में ! तेरे ही कारण मैंने अपना सर्वस्व इस पाखण्ड में लुटाया ।

उसने हँस कर कहा—क्या मैं तुम्हारी नवेली का गुलाम था ? तुम्हारे धन का लोभी था, तुम्हारे ज्ञान और यश का भूखा था ? मूर्ख मैं तो सदा यहीं पास में रहा, एक बार भी बुलाते तो चला आता ।

मैं रोने लगा । वह जोर से हँसा और गले से लिपट गया ।

पागल

सच कह, क्या देखा ? शून्याकाश के अनन्त विस्तार को तू चाहभरी मदमाती आँखों से घंटों देखता है, कुछ गुनगुनाता है और पीछे मुस्कराता है । तू किस प्यारे को देख रहा है ? किस अभिन्न से घुल-घुल कर मन की ऐसी बातें कर रहा है, जो किसी को जान नहीं पड़तीं ? हम बुद्धिमत्ता और ज्ञान के घमण्डी, तेरी आँखों पर डाह करते हैं । ईश्वर के लिये कुछ हम अन्धों को भी दिखा दे । दिखाना न बने तो कुछ समझा ही दे । इस अनन्त विश्व में अतृप्ति और तृष्णा की विकलता भरी हुई है । दुःख और निराशा की हाय भरी हुई है । क्या यह तू नहीं देखता सुनता ? हजारों-लाखों करोड़ों-अरबों मनुष्यों में तू निराला है ! तू केवल आनन्द और मस्ती में सदा स्नान करता है । तू अनोखा अपाहज है, अनहोना अभागा है, निराला निराला है । तेरे ऊपर हमारा समस्त विज्ञान और सावधानता न्योछावर है । तुझे निर्दोष वच्चे की तरह निस्संकोच नग्न देखकर हम लाज से मरे जाते हैं । हाय, हम तो लाख तरह अपने को ढकते हैं—फिर भी सब कुछ उघड़ जाता है । हे चेतन्य मूढ़, हे प्रकृत गुरु, जरा सामने खड़ा रह, मैं चेष्टा करके देखता हूँ कि तुझे देखकर मैं कुछ देग सकता हूँ या नहीं ।

उस पार

साँझ हो गई, और अब आलोक की आखिरी किरण भी जा रही है। उस पार हमारा घर है और बीच में यह अपार धार। वहाँ तो मेरे सब सुख साधन हैं। फेन सी कोमल शैया, और..... और उसके चारों ओर बिखरा हुआ प्यार, जिसे रौंदने में मेरे तलुओं को सदा सुख मिलता रहा है।

तुम्हारी नाव किधर जा रही है माझी ! क्या आज उस पार पहुँचना असम्भव है ? आह, वे सब तो मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

—:०२०:—

पावस ऋतु

ये आँखें तो रात-दिन वरसने लगीं ।

मेरा वह मधुमय उज्ज्वल जीवन पावस की ऋतु हो गया, और मेरी आशा की आलोकित धारा अँधेरी रात हो गई । जगत हँसता है तो बिजली सी कौंधा मारती है । जी घवराता है । मन की क्षुद्र वर्साती नदी में बाढ़ आ गई है—और उसमें प्राण डूबने लगे हैं । अरे ! कोई उबारने वाला भी है ? घर और परिजन तो सब क्षितिज के उस पार हैं, कोई भीत ऐसा भी है जो वहाँ सन्देश पहुँचा दे, इन प्राणों के डूबने से प्रथम ।

—:०६०:—

क्षणभंगुर

वह अतिशय शुभ्र और शीतल था और मैं नादान उत्तप्त । मैंने उसे ताप के उन्माद में सिर पर, छाती पर और मुख पर खूब रगड़ा, मुख में रख कर चूसा, और क्षण भर शान्ति लाभ की । परन्तु वह जैसा अभिमानी और कठोर था, वैसा ही क्षण-भंगुर भी । मेरा ताप तो वैसा ही रहा और वह घुल कर बह गया, उसी ताप से तप कर ।

—:०६०:—

आँखमिचौनी

मैं अपने चिर सहचर शैशव के साथ खुले-खुले में मगन थी, परन्तु असम्पूर्ण तारुण्य मेरी ताक में था, वह कुसुम कली को झोंके दे दे कर, झकझोर-झकझोर कर, उसे मधुर हास्य हँसा-हँसा कर मेरे मनोरंजन की चेष्टा चपचाप किया करता था। कभी वह भौंरा वन कर गूँजने लगता, कभी वासन्ती वायु के साथ मुझे आछूता। कभी चाँदनी रात और कभी झिलमिल सुनहरी धूप में हँसने लगता था।

मैं उसे पहचानती न थी। मुझे उसकी परवाह न थी। मेरा सहचर शैशव मुझे बहुत भाता था, मैं उसके साथ खेलती रहती, परन्तु वह फिर मेरे चारों ओर घूमने लगा, एक दिन उसने मुझे छू लिया—मैं लजा गई, छुई-मुई सी सिकुड़ गई। तभी से एक भय, एक आशंका मन में घर कर गई। कौन है यह अपरिचित? मैं चौकन्नी सी, घबराई सी, भीताचकिता सी, अब खेलने निकलती। परन्तु अब उसका अज्ञात अभाव भाव सा छू जाने लगा। वह छलिया अब छिप-छिप कर नये-नये खेल दिखाता था। मैं कभी विराग से देखती और कभी चाव से। उसका छू जाना मुझे भाने लगा। मैं अपनी नजर बचाकर उसे निहारने लगी। मैं उसकी प्रतीक्षा में रहती। वह मुझे गुदगुदाने लगा। मैं उसे पहचान गई थी, पर देख न पाती थी। फिर भी उसने मुझे ऐसा भरमाया कि मैं विमूढ़ हो उसके हाथ विक गई।

उस दिन नदी के किनारे मैंने उसे देखा । प्रभात के सतेज सूर्य के समान उसका मुख था, और ऊषा के आलोक की भाँति स्वर्ण शरीर । हीरे सी आँखें और चाँदी सा मस्तक था, वह लोहे सा सुदृढ़ और केले के नवीन पत्ते की भाँति कोमल था, वह जीवन की भाँति सुन्दर और प्रिय था, पृथ्वी भर की मिठास उसके उत्फुल्ल होठों में थी । वह बोला तो वाणी मूर्तिमती हो उठी ।

मैं उस पर रीझ गई । मैं सकुचाती हुई उसके पास गई ।
पूछा—

“कौन हो तुम ?”

“यौवन !”

“वह तुम्हीं थे ?”

“हाँ !”

“तुम्हीं आँखमिचौनी खेलते थे ?”

“हाँ !”

“तुम्हीं मुझे गुदगुदाते थे ?”

“हाँ !”

“छूते थे ?”

“हाँ !”

“अब तक दीखते क्यों नहीं ?”

“मैं तुम में रमा हुआ था, पहले आत्मा में, फिर अंग में । तब मैं असम्पूर्ण था । सम्पूर्ण होते ही मेरा अलग अस्तित्व हो गया ।”

“परन्तु मैं तो अब असम्पूर्ण हो गई !”

उसने हँस कर कहा—“नहीं, अब हम तुम मिलकर पूर्ण होंगे । आओ मेरे साथ ।” और हम मिल गये ।

नीरव-रव

उस दिन मैंने सुना । कैसा भीषण था । जगत उसे नहीं सुन सकता । वह उसकी घोर ध्वनि से बहुरा हो गया है । जिस समय इन्द्रियों के बन्धन से ज्ञान मुक्त हुआ और विश्वव्यापी वातावरण में उसकी कलाएँ विस्फारित हुई, एकाएक मालूम हुआ कि वह अनवरत ध्वनि, अप्रतिहत गूँज, विश्व के वातावरण में भर रही है, उसका केवल एक ही स्वर है, एक ही सम है, न उसमें गान है न ताल, विश्व मानो उसमें डूब रहा है । जैसे सूर्य के रंग नहीं दीखते, जैसे दिन में तारे नहीं दीखते, उसी तरह क्षुद्र इन्द्रियाँ उसे नहीं सुन सकतीं, वे उसमें डूबी पड़ी हैं । विश्व के वातावरण से बहुत दूर तक वह एक ठोस द्रव की भाँति मूर्तिमान ओत-प्रोत हो रहा है, उसमें एक आकर्षण था, अद्भुत । जैसे भीषण अजगर अपने श्वास के साथ अनेक प्राणियों को अपनी ओर खींचकर निगल जाता है, उसी तरह उसने मुझे आकर्षित किया, मैं विवश हो गया । परन्तु आत्मा से शरीर का विच्छेद नहीं हुआ था । यहाँ दिन था, रात थी, मित्र बन्धु थे, और स्मृतियों की असंख्य रेखाएँ थीं, मैं उधर खिंचा चला जा रहा था । तीव्रगति से उड़ते पक्षी को जैसे नीचे का संसार दीख पड़ता है, उसी भाँति यह सब मुझे दीख रहा था । कभी-कभी मेरा शरीर मुझे छू जाता था । हाय, उसे बान्धवों ने बाँध रखा था । आत्मा रव पर दुर्धष गति से

जा रही थी, परन्तु किसी तरह शरीर से उसका विच्छेद न हो पाता था, अपदार्थ शरीर को लेकर जा कहाँ सकता था ? उस वेग का आघात पार्थिव शरीर कहाँ सह सकता ? मिट्टी के भारी खिलौने को लेकर कहीं भारी यात्रा हो सकती है ?

कुछ न हुआ, शरीर न छुटा, मैं रह गया, वह रव दूर होता गया, उसका आकर्षण दूर होता गया, होश में आकर देखा—वही दुःखदायी श्रैया, वही चिन्ता, और उत्तरदायित्वपूर्ण पारिवारिक भावना । वही पुराने मित्र, वही परिचित संसार, सब वही पुराना, अज्ञात रहस्य का ज्ञान मिलते-मिलते रह गया, न जाने वहाँ क्या था ? वह तत्त्व अज्ञात ही रहा ! ज्ञान फिर इन्द्रियों के पिंजरे में लौट आया । जगत में फिर लौट आकर देखा, वही कोलाहल भरा था ।

स्वप्नद्रष्टा

सागर में मैंने एक स्वप्नद्रष्टा देखा, जिसके चेहरे पर गहरी दार्शनिक रेखाएँ अंकित थीं। फिर वह स्वप्न भी, जो पत्थरों में अंकित हो रहा था। जिसके चरण तल में सागर, सागर, सागर।

कामना हुई उस प्रभु के चरणों में वह स्वप्नद्रष्टा चिरंजीव रहे, अपने स्वप्न को चर्म चक्षुओं से मूर्त देख सके।

—:०८०:—

गुरुतर अपराध

प्राण और प्रतिष्ठा के पलड़ों पर तोल-तोल कर जो मैंने तुझे अपना प्यार दिया, वही मेरा गुरुतर अपराध हो गया। इससे, मैं आज तेरा उतना ही पराया हो गया, जितना तू मेरा अपना था। अब जा तू, अपने नये यौवन के नये गाहक के साथ, होठों और भोंहों में हंसता हुआ, सुहाग भरे पथ पर। और मैं रोऊँ— शब्दहीन, अश्रुहीन, भावहीन रुदन, अपने सूने घर में। अरे ओरे निष्ठुर, ओ निर्मम !

—:०८०:—

स्वदेश

स्वदेश !

ऐ मेरे स्वदेश तुम कौन हो ? मैं तुम्हें जानता तो हूँ, पर पहिचानता नहीं हूँ। जब मैं छोटा था तब तुमने मुझे पाला। जब मेरे जननी-जनक छोटे थे तब उन्हें भी तुमने पाला। उनके पिता—हमारे दादा—जब छोटे थे तब उन्हें भी तुमने पाला था। उनके भी पिता—प्रपिता, उनके भी पिता—प्रपिता को तुमने अनन्त काल से पाला है। ओह, तुम कितने पुराने हो मेरे पूज्य स्वदेश ! यह हिमालय के वर्फ से ढका हुआ तुम्हारा उच्च श्वेत शिर इसकी गवाही है। वह कैसा प्यारा है ! कितना ठण्डा है ! कैसा सुन्दर है ! सच है तभी तो तुममें सबका सब कुछ सह सकने की क्षमता है।

गौरी का अगौरव, गजनवी का गजव, नादिर की नादानी और तैमूर की कत्ल, यह सब चुपचाप—विलकुल चुपचाप सह लिया। जब तुमसे पूछा, “क्या हुआ ?” तो तुमने हँस कर कहा, “कुछ नहीं, वह सब अवोध बालकों की नादानी थी।” आँखों में मौज थी, होठों पर मुस्क्यान, मन में सफाई थी, हृदय में उमङ्ग, न गिला न शिकवा। यह सब तुम्हारी सफेदी को सज गया।

तुम्हारे पुत्रों ने अपनी क्षमता से उन्हें पकड़ा, बाँधा पर क्षमा से छोड़ दिया। उन्हीं को उन्होंने छल से मारा, लूटा और क्या-क्या न किया ! पर जब वे तुम्हारी गोद में आ पड़े, तो तुम्हारे

लाड़िले तुम्हारे पास आये, उन्होंने रोष भरे नेत्रों से कहा, "पिता ! यह क्या ? तुम्हारी शिक्षा के कारण हमने इन्हें क्षमा किया । पर इन्होंने छल से हमारा सर्वनाश किया ।" तब तुमने उन्हें छाती से छिपाकर कहा—“जाने दो, ये बिना माँ-बाप के तुम्हारे बाप को अपना बाप बनाने आये हैं । ये तुम्हारे भाई हैं । लो ! इनका हाथ लो !!!” इतना कह कर उनका हाथ अपने पुत्रों के हाथ में मिला दिया । तुम इतने उदार हो ! ऐ मेरे महान् स्वदेश !

ऐ मेरे स्वदेश ! बताओ, मेरी माता तुम्हारी कौन थी ? और पिता कौन थे ? वह सदा तुम्हारी तारीफ के पुल बांध देते थे । जब मैं माता की स्नेहमयी-छाती में चिपक कर दुग्धपान करता तो वह एक गीत गाती थीं । उसका अभिप्राय शायद यही था कि यह दूध तुम्हारा है । और पिता जब मधुर-मधुर फल लाते और छील कर खिलाते तो किस्से सुनाते थे । उनका अभिप्राय भी शायद यही था कि ये फल तुम्हारे हैं । मेरे अच्छे स्वदेश ! बताओ तो, क्या वह दूध तुम्हारा था ? क्या वे फल तुम्हारे थे ? वह मिठास, वह स्वाद, वह प्राणोत्तेजक आनन्द क्या तुम्हारा था ? सच कहना ! ऐसी मधुर सुघड़ाई तुम्हारे पास कहाँ से आई ?

मेरे माता-पिता अब नहीं हैं, पर मैं अपने को अनाथ क्यों कहूँ ! जबकि तुम मेरे पूज्य, मुझे गोद में लिये हुए हो । तुम मेरे, मेरे पिता के, उनके भी पिता के, उनके भी पिता के अनन्त काल से पूज्य पूर्वज हो, सदा से रहे हो, सदा रहोगे । ऐ मेरे स्वदेश ! अब तक तुम कहाँ छिपे थे ? छिपे ही छिपे तुमने चुपचाप मेरे लिये कितना कष्ट सहा ! तुमने देखा बालक भूख के मारे छटपटा रहा

में खेत पर कड़ी मेहनत करता है तो तुम पञ्चा ले कर खंडे हो जाते हो। वह जब घोर ताप से व्याकुल हो उठता है तो अमृत की बूंद टपकाते हो। पर झूठ न कहेंगे, कभी-कभी वचन की तरङ्ग तुम्हें भी याद आ जाती है, खिलवाड़ करने लगते हो। कभी ऐसी हवा चलाते हो कि किसी की झोंपड़ी उड़ जाती है, किसी का कपड़ा। और सब तो ठीक है पर यह ऊधम हमें नहीं भाता है, क्योंकि हम गरीब आदमी हैं।

इतने दिन से तो तुम्हें जानते ही न थे। अब जाना है। आजकल तुम कैसे हो गये हो? यह तो कहो तुम! पड़े क्यों हो? उठते क्यों नहीं? क्या बूढ़े होने के कारण? पर बूढ़े क्या आज से हो! मुदत से हो। तुम्हारे बूढ़े-बूढ़े बेटों ने तो कुहराम मचा दिया था। तब तुम कभी-कभी कराहने भी लगते हो। क्या घाव लगे हैं? पर तुम्हारे अवोध बालक भी घाव खाकर हँसते रहे हैं। तुम्हारी देह सूख गयी है। कपड़े फट गये हैं। क्या तुम दरद्री हो गये हो या रोगी? तुम इतने दीन क्यों हो? मेरे सर्वस्व स्वदेश! ऐं! तुम रोते भी हो? इस प्रयाग की पुण्य भूमि पर तुम्हारे आँसुओं का इतना जमघट! यह तो देखा नहीं जाता।

क्या कहा?—‘पूर्व स्मृति सर्प की तरह डसती है, विच्छू की तरह डङ्क मारती है, विजली की तरह नाशकारी और मृत्यु की तरह भयानक है।’ हाय! कहाँ गया वह भूत! कहाँ गया वह अतीत!

जिन्होंने तुम्हारा यौवन देखा है, वे कहते हैं कि जब तुम अगाध समुद्र के फेनों की उज्ज्वल करधनी पहन कर खड़े होते थे तो संसार की जातियाँ तुम्हारे बाँकपन पर लोट-पोट हो जाती थीं।

यह बात सच मालूम होती है। ग्रीष्म की सन्ध्या को नैनोताल में, शरद की पूर्णिमा को हरिद्वार की गङ्गा में, वसन्त के प्रभात को कृष्ण की विहारभूमि मथुरा में, वर्षा की दोपहरी को अजमेर में मैं तुम्हारी छटा को देख चुका हूँ, मुग्ध हो चुका हूँ, मर-मर गया हूँ, जी-जी गया हूँ। वह मनोहरता आँखों में बस रही है, जन्म भर वसी रहेगी।

यह तो तुम्हारे बुढ़ापे की छटा का हाल है, यह तो तुम्हारा लुटा हुआ यौवन है, धुली हुई लुनाई है, वीता हुआ जमाना है। फिर तुम्हारी जवानी के सौन्दर्य की जो प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ऐ मेरे बूढ़े स्वदेश ! अब भी कोटि-कोटि प्रवासी तुम्हारे सौन्दर्य के श्रमसान की झाँकी करने आया करते हैं।

तुम्हारे नेत्र दीखने में जैसे सुन्दर थे, देखने में भी वैसे ही थे। पर अब तो वे विलकुल धुँधले हो गये हैं। तुम्हारे जिन बाहुओं के बल की इतनी प्रशंसा थी कि जिन से उपाजित भोगों को संसार ने भोगा था, वे ऐसी सूख गयी हैं ! इन्हीं पैरों से तुमने जल-थल और आकाश के द्वारा भ्रमण्डल की यात्रा की थी। पर अब इन से उठ भी नहीं सकते। हाय ! यह कैसी दशा है ! प्यारे स्वदेश ! न रोओ तो करो भी क्या ?

तुम्हारी वह झलक एक वार, सिर्फ एक वार, यदि किसी तरह दीख जाय तो उस पर मैं सर्वस्व वार दूँगा। दिखाओगे क्या ?

जिन्होंने तुम्हारा यौवन लूटा था वे कैसे निर्दया थे ? ऐसी सरलता ! ऐसी उदारता ! ऐसी महत्ता ! वीरता ! क्षमता ! यह सब अलौकिक देख कर भी उनके हृदय में तुम्हारी भक्ति

अ० स्त०—१०

न हुई, उन्होंने तुम्हें न समझा। पहिले तो तुम्हारी सरलता और उदारता से लाभ उठाया, पीछे लूट मचाई। जब कुछ न रहा तो लात मार कर छोड़ दिया। गजब किया ! सितम किया ! उस समय मैं न था ! हाय ! मैं न था !!

यह सच है कि मैं तुच्छ हूँ, अशक्त हूँ, अवोध हूँ। पर उस समय मैं अपनी सब शक्तियों की वलि कर देता। मैं अपनी आत्मा की वाजी लगा देता। मैं अपने हृदय का खून बहा देता। मैं तुम्हारे बदले उनका अत्याचार सहता, इतनी धीरता से सहता कि वे घबरा जाते, थक जाते, अत्याचार करना ही भूल जाते, उससे उन्हें घृणा हो जाती।

मैं बेशक मर जाता, पर तुम तो बच जाते। मेरा जीवन ही क्या है ! किसी को जिलाना एक ओर रहा, मैं स्वयं भी कुछ नहीं जी रहा हूँ। तुम यदि जीवित रहते तो न जाने कितने अछूत, कितने अनाथ, कितनी विधवाएँ, जो मनुष्य हो कर भी मनुष्यों के अधिकारों से वंचित किये गये हैं और जो तुम्हें अपना गौरवान्वित पिता कहते हैं और सचमुच तुम्हारे पुत्र हैं। पर ये कौवे और कुत्तों की तरह उनसे भी निकृष्ट जीवन व्यतीत कर रहे हैं, भरी जवानी में मर रहे हैं, आधे दिन जीते हैं, वे भी काटे नहीं कटते। ये सब क्या ऐसे रहते ? हँसते, खेलते और दीर्घजीवी होते ? आह ! वह दिन कैसा सुन्दर होता।

प्यारे ! गया सो तो गया। अब वोलो तुम्हारे लिए क्या करूँ ? यह सच है कि मुझ में शक्ति नहीं है। पर मेरे हृदय को मुझ से कौन छीन सकता है ? अच्छा क्या मेरे रक्त से तुम्हारी सूखी भुजाएँ पुष्ट हो सकती हैं ? अथवा मेरे प्राणदान से तुम्हारा प्राण जग सकता है ? मैं तुम्हारे लिए उत्सर्ग हूँ, मेरा मन उत्सर्ग

है, तन उत्सर्ग है, लोक और परलोक भी उत्सर्ग है। पर वह क्या तुम्हारे लिए तनिक भी उपयोगी होगा ?

पड़े-पड़े तुम्हारी पाचन-शक्ति नष्ट सी हो गयी है। अब तुम्हारी सारी क्रियाएँ बेसमय होती हैं। वताओ तुम्हारी वह संजीवन बूटी कहाँ है ? उससे तुमने कितनों को अच्छा किया है, स्वयं क्यों नहीं अच्छे होते ? क्या जीने की साध मिट गयी है ?

यह सम्भव है कि इस जीवन-संग्राम से तुम विरक्त हो उठे हो। क्योंकि तुम सदा से उदासीन और एकान्तप्रिय रहे हो। सम्पदा से तुम्हें अजीर्ण हो गया था, सुख से अरुचि हो गयी थी। बाहुल्यता में ऐसा होता ही है। पर हम तुम्हारे सिवा किसे प्यार करें ? किसकी गोद में खेलें ? यह सुख, यह गौरव, यह मौज और कहाँ है ?

यह सुहावने सुनहरे खेत, यह स्वच्छ नीलाकाश, यह बड़े-बड़े हाथियों की पंक्ति, यह मधुर-रसीले आम के निकुञ्ज वन, यह गौरी—गङ्गा, श्यामा—जमुना, वताओ और कहाँ है ? वताओ और किस देश की मिट्टी में करोड़ों अश्वमेध और राजसूय यज्ञ सत्तों की विभूति मिल रही है ?

आओ ! मेरे प्यारे ! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। अपनी जवानी से भी अधिक प्यार करता हूँ। अपनी बुद्धि, विद्या, धन, पुत्र, स्त्री सबसे अधिक प्यार करता हूँ। ये सब तुम पर न्यौछावर हैं। मेरे साथ ये सब भी तुम्हारे हैं। आओ स्वामी ! एक बार मैं साहस करके देखूँ कि मेरी भुजा में, मस्तक में, आत्मा में, कुछ बल है भी या नहीं, जिससे तुम्हें खड़ा कर सकूँ।

गंगा

जन्म लेने के बाद जब से होश सम्हाला तभी से मैंने तुम्हें इस तरह सूखा देखा है। पहिले तो मुझे मालूम ही न था कि तुम कभी बहुत ही हरी-भरी थीं, पर जब व्यास और वाल्मीकि से जान-पहचान हुई, रामायण और महाभारत से वातचीत हुई, तब उनकी जवानी पता लगा कि तुम सदा से ही ऐसी दुबली-पतली, सूखी-साखी और मलीन नहीं हो। वाल्मीकि कहते थे और व्यास भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते थे कि तुम्हारी गोती जैसी उज्ज्वल शोभा थी, निखरा हुआ चाँदी सा रंग था, शंख जैसा गम्भीर स्वर था और हाथी जैसी मदमाती चाल थी। नववधू जैसा प्राणोत्तेजक हास्य था, अमृत जैसा जीवनप्रद तुम्हारा रस था और माता जैसी शान्तिप्रद तुम्हारी थपकियाँ थीं। भव ताप से तप्त प्राणी माया-मोह से घबराकर काम-क्रोध से जर्जर होकर—संसार से ऊँकर कहीं भी शान्ति न मिलने पर जब तुम्हारी गोद में आते थे, तो तुम्हारे एक ही दिन के प्यार से, तुम्हारी उस वात्सल्यमय दृष्टि से ही वे मुनि हो जाते थे। तन, मन, आत्मा सब शीतल, शुद्ध और शान्तिमय बन जाती थी। तुम्हारी गोद छोड़कर कहीं जाने को जी नहीं चाहता था। तुमने अपने ही आँगन में अपनी ही आँखों के सामने उनकी कुटियाँ बनवा रखी थीं। तुम प्रातःकाल-प्रातःश्री धारण करके ऊँचा की लाली से

अपनी मुख-कान्ति को प्रतिबिम्बित करती हुई और प्रभाती के स्वर में लोरियाँ गाती हुई जब उन अपने बच्चों को—हाँ, बूढ़े बच्चों को जगाने उनके द्वार पर जातीं—तब तुम्हारा कल-कल निनाद सुनकर वे विनिद्र होकर देखते—तुम उनकी ओर उत्फुल्ल नयनों से देखती हुई मुस्करा रही हो—अपनी ओर बुला रही हो। तब वे तुम्हारे बालक ! बूढ़े बालक ! अपने तपस्वीपन को भूलकर, अपनी ज्ञान-गरिमा को एक ओर रखकर, अपनी सफेद डाढ़ी की परवा न करके—मोहान्ध की तरह, हाँ, छोटे, बिल्कुल छोटे बालक की तरह—दौड़ कर तुम्हारी गोद में जा कूदते, लोटते, पोटते, ऊधम मचाते और अपनी उस बहुत दूर की अतीत बाल-लीला को करते थे। और तुम ? तुम भी यह भूल जाती थीं कि मेरे ये बच्चे बड़े हो गये हैं, ज्ञानी हो गये हैं—तुम उन्हें मल-मल कर, धो-धो कर न्हिला-धुला कर शरीर को हरा और मन को भरा करके हँसा करती थीं। आखिर तो तुम माँ थीं, माँ के सामने बेटे क्या कभी बूढ़े हो सकते हैं ?

किन्तु माँ ! उस दिन मैं तुम्हारे घर गया था। कार्तिकी का पर्व था। सभी जा रहे थे—मैं क्यों न जाता ? आती वार कितनी होंस थी, मन में उमङ्ग भर रही थी—रास्ते के कष्ट क्या कहूँ ! रात को जङ्गल की कड़ी सर्दों में सिकुड़ गया, दिन को चमचमाती धूप में झुलस गया।

वैलगाड़ी की सवारी थी, कच्ची, धूल, कीचड़ और गड़ढों से भरी सड़क थी। गले की टाल को ठुल-ठुल करते वैल अपनी मन्द गति से जा रहे थे। ऊपर सूरज तप रहा था, उसी तपते सूरज के तेज चांदने में मैं अपनी आँखें ऊँची उठाकर दूर—अति दूर—जहाँ के वृक्ष काले-काले परछाईं से दीखते थे, जहाँ धरती-आस्मान

मिल गये थे, देखता हुआ मन से पूछता था 'गंगी कितनी दूर है?' वालिका सरस्वती ने पूछा—'भैया गंगा कितनी दूर है?' बालक विजय ने कहा—'भैया ! गंगा कितनी दूर है?' मैंने कुछ मौज के स्वर में कहा 'वह आ रही है गङ्गा । वह आ रही है।' बालक ताली बजा कर हँसते-हँसते बोल उठे—'आहा जी ! हम खूब लोट-लोट कर न्हावेंगे।' सरस्वती बोली—'हम चाँदी के रेत में सोने का घर आ बनावेंगे।' वच्चे खिल रहे थे, उन के चेहरे धूप में लाल हो रहे थे । हममें जितना उत्साह था उतना बैलों में नहीं था । बेचारे अबोध पशु थे ! वे उसी तरह एकरस धीमी गति से चल रहे थे ।

रास्ता कट रहा था, गाड़ी चल रही थी, सूरज ढल रहा था, धूप पीली हो रही थी, दूर के पेड़ घुँघले हो रहे थे, खेतों का रंग गहरा हो रहा था । सड़क की धूल पर पास के पेड़ों की परछाईं छा रही थी । बैल थकावट में चूर झूमते हुए, नथुनों से वड़ी-वड़ी साँस फेंकते, मञ्जिल पूरी होने पर दाना और आराम की आस में हिम्मत बाँध कर उस भारी गाड़ी को खींच रहे थे । गंगी अभी दूर थी ।

नये प्रभात की पहली किरण जब गंगी को छू रही थी तब पहली बार मैंने उसे देखा । यद्यपि मेरी दृष्टि और उस दृष्य के बीच अभी अन्तर था । मेरे चारों ओर जंगल का सन्नाटा था, खेतों और की लहर काली-वृक्षों की छाया भयावनी हो रही थी, बहुत दूर पूर्व में उजेला था, दूर पर लम्बे-लम्बे ताड़ और एरण्ड के वृक्ष दीख पड़ते थे । वृक्षों पर कौवे बोल रहे थे । गाड़ी का पहिया चूँ-चूँ कर रहा था । सरस्वती और विजय सो रहे थे । मैंने एकाएक देखा ! उन लम्बे ताड़ और एरण्ड के वृक्षों के परे श्वेत चाँदी की चादर बिछी है और उस के परे एक ज्योतिर्मयी

रेखा चमक रही है। मैंने कहा, 'अम्मा ! वही न गङ्गा है ?' अम्मा की लटें विखर रही थीं, उन्हें एक ओर उठा कर उन्होंने कहा— 'यही गङ्गामहारानी हैं।' उन्होंने हाथ जोड़ गद्-गद् कण्ठ से कहा "गङ्गा मैया तुम्हारी जय हो ! जय गङ्गे रानी !"

हर्ष से मेरे नेत्र फूल उठे। हृदय नाचने लगा। बैल मोटी-मोटी झूल ओढ़े झूमते-झूमते बढ़ रहे थे। मैंने उतावली से कहा— 'सरस्वती ! विजय ! उठो गङ्गा आ गयी।' माँ ने कहा, 'रहने दो सर्दी है, जरा सो लेने दो, वच्चे हैं।' मैंने कहा, 'माँ !' मैं दौड़ा, वहीं—उस कच्ची धूल और खड्डों से भरी सड़क पर, उसी ऊपा के उज्ज्वल अन्धकार में, उसी मीठी सर्दी की वहार में, उसी शरद की वीतती रात में, मैं ! हाँ मैं आपे से बाहर होकर, अजी पागल होकर, विना जूता दौड़ा, गाड़ी से आगे, बैलों से भी तेज, बहुत तेज, मानो बैलों के धैर्य से ऊब गया था, उन्हें उत्साह से चलना सिखाने के लिए मैं दौड़ा। बैल उसी तरह स्वाभाविक गति के चल रहे थे। मैं आगे निकल गया। गाड़ी, उसके पहिये का चूँ-चूँ शब्द, बैलों की टाल का टुलुक-टुलुक नाद पीछे रह गया। वायु सफेद हो गयी थी और परछाईं रंग गयी थी, स्थिरता हिलने लगी थी। गाड़ी पीछे थी, मैं एक पुराने वाग के किनारे एक कुए की कोर पर बैठा एक बार गङ्गा की ओर और एक बार गाड़ी की ओर देख रहा था। निकट आकर मैंने देखा ! तुम्हारे कृपुत्रों ने धरती पर पटक रखा है। और वे हट्टे-कट्टे जवान लोग कोई उद्योग-धन्धा न करके तुम्हारी छाती पर चढ़े बलपूर्वक तुम्हारे बुढ़ापे के सूखे स्तन निर्दयतापूर्वक चूस कर तुम्हें क्षत-विक्षत कर रहे हैं, और तुम धूल में पड़ी छटपटा रही हो। हाय ! हाय ! कर रही हो—कह रही हो कि इन स्तनों में अब कुछ नहीं

है। पर वे वहीं डटे थे। मैंने झुंझला कर पूछा, 'तुम कौन हो !'
 उन्होंने निर्लज्जता से कहा—'तुम हमें नहीं जानते, जिनके तप से
 यह पवित्र भूमि प्रसिद्ध हुई है—गङ्गा माता के हम वही गङ्गा-पुत्र
 हैं, लाओ कुछ भीख दो।' सब मूर्ख थे, सब के वेश गुण्डों जैसे
 थे। मैंने घृणा से मुँह फेर लिया। मैं तुम्हारा सूखा, मलीन,
 उत्साहहीन रूप देखने और रोने लगा !!

हाय ! आज वह तुम्हारी शोभा कहाँ विलीन हो गयी ?
 किस अतल पाताल में डूब गयी ? तुम्हारी ही गोद में दो सहस्र
 रणपोतों का बेड़ा सहस्रों योद्धाओं को लेकर सुदूर सागर में
 पहुँचता था। वह चलती-फिरती विजयोत्सवित महानगरी
 तुम्हारी छाती पर फूल की तरह तैरती फिरती थी। और तुम
 हिलोरों की थपकियों से उनका प्यार करती थीं। दिलासा देती
 थीं। और उनकी उँगली पकड़ कर अपने सौ काम छोड़ कर
 आगे-आगे चल कर उन्हें रास्ता बताती थीं। उत्तर प्रांतों की
 घनघोर उपज, करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति, माँ ! तुम अपनी-
 अँगिया में छिपा कर दूरदेशस्थ पूर्व वासी अपने बच्चों को दीड़
 कर दे जाती थीं। उनसे उसमें से जो कुछ भोगा जाता था
 भोगते—जो चूरचार बचती पीत समुद्र और अरब सागर में फेंक
 देते थे। वहाँ यूरोप और अरब के कङ्कले मुँह बाये इस वितरण
 की प्रतीक्षा में खड़े रहते थे। जब तुम कल-कल करके अपने
 गम्भीर शरीर को लहराती हुई पर्वत से उपत्यका, उपत्यका में
 मैदान, मैदान से नगर, नगर से सागर की यात्रा करती थीं,
 तब तुम्हें रस्ती भर थकान नहीं आती थी। आज तुम्हें क्या हो
 गया है ? मैं इस पार से उस पार तक हो आया, मेरी पिछलियाँ
 भी नहीं भोगीं। क्या मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ ? या तुम्हीं मृग

गयी हो ? हाय ! सूख कर काँटा हो गयी हो, जगह-जगह शरीर में धूल लग रही है । आज तुम माँ ! क्यों विलख-विलख कर धूल में लोट रही हो ? तुम्हारा साफ शरीर मैला और रोगी सा हो गया है । रंग तुम्हारा श्याम पड़ गया है । प्रयाग की पुण्य-भूमि में जब सब से प्रथम चची जमुना और सरस्वती से तुम्हारा संगम हुआ था—तब की याद है ? तुमने धवल नई साड़ी पहनी थी—चाची ने नीलाम्बर धारण किया था और सरस्वती ? सरस्वती का परिधान उसके रंग में मिल गया था । तब मुनियों के जटाजूट वीतराग शरीर तुम्हारे सुख-संगम से मोहित होकर देख रहे थे । प्रेमान्मत्त होकर बार-बार समाधि से उठकर तुम्हारी गोद में अतृप्त भाव से तुम्हारा स्तनपान करते थे । बटुक लोग तुम्हारे गम्भीर घोष की ताल पर पवित्र सामगान करते थे । मुनियों की वेदी से गगनस्पर्शी दिव्य-ज्योति उठकर दिगन्त को आलोकित करती थी । तुम्हारे चरणों को स्पर्श करके वायुदेव यज्ञ बलि से सन्तुष्ट हो पृथ्वी पर नैरोग्य सुधा वरसाता था । विष्णु भास्कर अपने प्रखर तेज को प्राण-प्रद करता था । आज न रही तुम्हारी—वह आयु, उमंग और मस्ती, न रहे वे दिन । सरस्वती देवलोक सिधारी । कृष्ण के अन्तर्ध्यान होते ही जमुना विधवा होकर वैरागिनी हो गयी । एक-एक करके सब सौरभ गया । रह गयी एक श्रीहीन छाया—एक धुँवला प्रतिबिम्ब, और एक वेदना की सिसकारी !!!

चित्तौड़ के किले में

सूरज का मुँह लाल हो गया था और वह धरती में धस रहा था । आसमान आँखों में आँसू भरे खड़ा था, कोहरा और अन्धकार बढ़े चले आते थे, मैं महाराणा कुम्भा के कीर्तिस्तम्भ की सबसे ऊपर की चोटी पर खड़ा हुआ यह सब देख रहा था !!

जमीन से मीलों ऊँची हवा में, राजपूती विध्वंस की हाय भर रही थी । मरे हुए पशुओं की हड्डियों के ढेर की तरह पद्मिनी का महल ढहा पड़ा था, मीरा का मन्दिर कंगाल ब्राह्मण की तरह पैसा-पैसा भीख माँग रहा था; जयमल और फतहसिंह के महलों के मुर्दे दीदे दिखा रहे थे । इन सबके बीच में वर्तमान महाराजा का बनाया भकाभक सफेद महल ऐसा मालूम होता था जैसे गोवर के ढेर में ओला पड़ा हो । जैसे विधवा ने विछुए पहन रखे हों । मैंने एक हाय की और कहा—हाय ! इन निर्लज्ज राजपूतों का बीजनाश क्यों न हुआ !!! इन की माँ वाँझ क्यों न हो गई !!!

मैं पीछे लौटा । अँधेरा हो गया था । जौहरी बाजार में सिर नीचा किये जा रहा था । एक भी मनुष्य न था । दूर तक दीपक न था—ढूकानों की जगह पत्थरों के ढेर और जवाहरात की जगह अड़से के पेड़, वस यही वह जौहरी बाजार था । काले-काले वृक्ष

मृत वीरों के भूत मालूम पड़ते थे । मुझसे न रहा गया, मैं एक पत्थर पर बैठकर अच्छी तरह रोया ।

एक वकरियों का बड़ा सा रेवड़ सामने होकर गुजरा, सड़क की धूल आसमान तक चढ़ गई । क्षण भर को मुझे एक मजा आया । मैंने सोचा इस धरती पर इसी तरह वीरों की सेना चलती होगी । ऐसी ही धूल उड़ती होगी । मैं उस अँधेरे में बड़े चाव से उन वकरियों को आँख गाड़-गाड़ कर देखने लगा । मेरे मन में आई कि दौड़ कर एक वकरी के गले से लिपट जाऊँ और पूछूँ—हे राजपूती जीव ! तू आज वकरी कैसे बन गया ! अभाग ! ! वदनसीव ! ! !

वहीं खड़ा रह

निश्चल और निर्भय, सीधा तीर के समान । कुछ पर्वह
' नहीं । सुलगने दे, धधकने दे, और आकाश तक ज्वाला की लप-
लपाती लहरें उठने दे ।

... वहाँ तेरे प्यारे जी तोड़ रहे हैं, घायल हो रहे हैं, जूझ रहे
हैं, तू उधर मत देख । नये योद्धाओं को भेज । खबरदार ! आवाज
करारी बनाये रखना, स्वर काँपने न पाये, आँखों में पानी न
आने पाये ।

यह युद्ध है । युद्ध में जूझ मरना उतनी वीरता नहीं है । सच्ची
वीरता प्यारों के बलिदान को उत्फुल्ल नयनों से देखने में है ।

आशा के तार

आशा प्यारी ! रात चाहे जैसी अँधेरी हो । और चाहे जैसा आँधी और तूफान उमड़ रहा हो । चाहे प्रलय के बादल गरज रहे हों और उस भयानक जंगल में चाहे जितने शेर, चीते, सर्प, नद, नाले और ऊवड़-खावड़ पर्वत हों, मार्ग चाहे न दीखता हो, पर तेरे उसी तार के सहारे—हृदय को आनन्दित कर देने वाली ध्वनि में उसी तार की तुनतुनी वजाता हुआ, मस्त वायु में झूमता हुआ—अचल भाव से चलता ही जाऊँगा । चलता ही जाऊँगा । स्त्री, पुत्र, धन और यश चाहे मेरा साथ छोड़ दें । दुनिया चाहे मुझे अभागा कहे । अविश्वासी कहे । पर हे उज्ज्वल आलोक की देवी ! हे साहस और धीरज की अधिष्ठात्री ! हे मन की रानी ! आशा ! आशा ! तू मुझे मत छोड़ । विजली की तरह हृदय में चमकती रह । अन्धे भिखारी के इकतारे की तरह एक स्वर, एक ताल में वजती रह । मैं भूखा, प्यासा, थका, जखमी, रोगी, अपाहज और दुखिया हूँ । पर तेरे इकतारे की तुनतुनी की तान पर अवश्य नाचूँगा । दिखा अपना तार, ओफ ! मिल गये आशा के तार ! ! !

दिवाली

दिवाली !

अमावस्या के गाढ़ अन्धकार में असंख्य दीपावली के प्रकाश को लेकर क्या देखने को तुम हमारे घर आई हो ?

जरा ठहरो, जो तुम अपने साथ भारत की भाग्य-लक्ष्मी को लाई हो, जो तुम्हारे दीपकों में बिना अग्नि का प्रकाश हो, जो तुम्हारे दीपक हमारे गृह-स्नेह को चूस कर, हमारे घरों को काजल से काला न कर जायँ, क्षुद्र किन्तु उत्साही प्रेमी पतंगों को तुम्हारे दीपकों से जल मरने का भय न हो तो तुम आओ। हम लज्जा और ग्लानि को भूल कर मलीन अन्धकार में ही तुम्हारा सत्कार करेंगे।

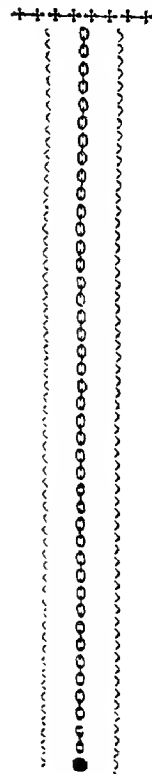
पर जो ऐसा न हो तो तू जा। हमारे घरों में इस ज्वलन्त प्रकाश से देखने योग्य कुछ नहीं है। हमारा यह अन्धकार कुछ घुरा भी नहीं है। इसने हमें, हमारी मलीनता को, हमारी हीनता और नग्नता को छिपा रखा है। हमारे नेत्रों की निस्तेज ज्योति उसे सह भी गई है।

ना ! हम पर प्रकाश मत डाल। हम नंगे हैं। हम भूखे हैं। हम रोगी और निराश्रय हैं। थके हुए, मरे हुए, और तिरस्कृत हैं। लांछित हैं। स्वार्थी, पापी और भीरु हैं। हम पूर्वजों की अनुल सम्पत्ति का नाश करने वाली सन्तान हैं। अपने बच्चों को

भिखारी बनाने वाले माता-पिता हैं। रुढ़ि की वेदी पर स्त्रियों को वलिदान का पशु बनाने वाले पुजारी हैं। हम खानदानी वाप के कुकर्मों बेटे हैं।

ना ! ना ! हमें अन्धकार में ही रहने दे। हमें अन्धेरे में ही मुँह छिपाने दे। हमें लज्जा आती है। हम किसी को नहीं देखना चाहते, परस्पर अपने को भी नहीं देखना चाहते। अपने आप को भी नहीं देखना चाहते। हमें अनन्त काल तक तारागणों से भी हीन, चैतन्य-विहीन, घोर अन्धकारमयी अमावस्या की ही रात्रि पसन्द है। हाय !!!

अतीत
और
नव्य
भारत



जगत जाग रहा था

उसका सौभाग्य यौवन में भरपूर था। बेतोल सम्पदा भरी पड़ी थी। खा रहा था और वखेर रहा था। रात दिन वहाँ समान थे। विजली का तेज और वायु की गति लिये हुए प्रकृति वेश्या वहाँ हाजिर थी, हाथ में रक्तमद्य, और नयनों में हलाहल कटाक्ष लिये अन्धाधुन्ध ढाल रही थी। ज्ञान और विज्ञान उसके मुसाहिव थे और वे अपने आप पर इतरा रहे थे।

उस समय विश्व विभूतियाँ नग्न नृत्य कर रही थीं, और नर लोक उस अखण्ड-ताण्डव पर मुग्ध और लीन हो रहा था। मूर्ख न्याय ताल दे रहा था और निर्लज्ज नीति अट्टहास कर रही थी। रुढ़ि सभापति थी। पाखण्ड के हाथ प्रवन्ध था, और पाप स्वागत कर रहा था। असत्य के अन्ध-दीप जल रहे थे, और सत्ता का महदालोक अप्रतिम चमक रहा था।

वहाँ ! मानव उत्कर्ष का स्वच्छन्द उपहास हो रहा था। भीषणनाएँ अदम्य वेग में भरी खड़ी थीं। प्रतिहिंसा जीभ लपलपा रही थी, और दासता दुम हिला रही थी।

हिंसा ! हिंसा की ओर सबकी दृष्टि थी। उसका कुंचित भृशुटी-विलास, कुटिल भ्रूभंग, विकट दन्तपेपण, क्षण-क्षण में आशंका उत्पन्न कर रहा था।

विश्व-ध्वंस्तिनी ज्वालाएँ संकेत की वाट में हाथ बाँधे खड़ी

थीं। सब तरफ लाल ही लाल दीखता था। एक अस्फुट किन्तु अशान्त ध्वनि सबसे ऊपर उठ रही थी। न उसमें स्वर था, न ताल, उसे सुनकर वातावरण में रह-रहकर कम्पन हो रहा था। कुछ होने वाला था।

भारत सो रहा था—

भारत सो रहा था

थकावट से चूर और बुढ़ापे से लाचार। वह सब कुछ कर चुका था, सब कुछ पा चुका था, उसकी कोई साधना न रह गई थी। इतिहास के हजारों-लाखों पृष्ठों पर उसके हाथ के हस्ताक्षर थे।

दूसरी जातियाँ उन्हें पढ़ और समझ रही थीं।

वीरता, विद्या, व्यापार और वैराग्य की वाटिकाओं में उसके हाथ का जो कुछ बचा था, उसमें से जागती जातियों को जो कुछ मिल जाता था उसे पाकर निहाल हो जाती थीं।

वे उस पर लोटपोट थीं। वे उससे ब्याह करने का चाव रखती थीं। बूढ़े को कुछ खबर न थी।

वह सो रहा था। थकावट से चूर और बुढ़ापे से लाचार!

वह सब कुछ कर चुका था, सब कुछ पा चुका था, उसकी कोई साधना न रह गई थी।

घर में सम्पदा, सुख और धर्म का मेह बरस रहा था।

आँगन से स्वर्ग तक सरल सीढ़ियाँ लगी थीं।

अभ्युदय और निःश्रेयस एकत्र घर को रखा रहे थे ।

देवता आ रहे थे, जा रहे थे ।

रत्नदीप जल रहे थे ।

स्वर्ण-स्तम्भों पर वारहों राशियाँ दिप रही थीं ।

जल-थल और आकाश उसके निःश्वासों की सुगन्ध से सुर-भित हो रहे थे ।

वे आई और पास बैठ गई । जो मिला सो खाया और वहीं सो गई !!

यह बूढ़े की नींद का चमत्कार था—

यह बूढ़े की नींद का चमत्कार था

प्रभात आया और गया ।

जातियाँ जागीं, उठीं, और वहीं अपनी आयु शेष कर गईं ।

मनुकुल के वंश-बीज ने मद्य पी ।

उत्तराखण्ड के प्रशान्त वातावरण में काम, क्रोध, होड़, वदा-वदी, ईर्ष्या, कलह, स्वार्थ, और पाखण्ड भर गया ।

दुर्धर्प क्षोभ हुआ ।

हाहाकार मच गया ।

मनुष्य घोड़ों की तरह दौड़े, भेड़ की तरह मरे और गधे की तरह पिसे !

यज्ञ स्तूप जलाकर मिलों की चिमनियाँ बना डाली गईं ।

तपोवनों में कम्पनियाँ खुलीं ।

समाधि के स्थलों पर आफिस बने ।

व्यान के समय काम का दौर-दौरा हुआ !!

गंगा और यमुना की कोमल देह कुल्हाड़ों से क्षत-विक्षत कर डाली गई !

यज्ञ-धेनुओं के मांस-खण्ड प्रिय खाद्य बने ।

असूर्यपश्या महिलाएँ सार्वजनिक हुई ।

अवोध बालिकाओं ने वैधव्य का वेश पहना और निवाहा ।

स्वैण नरवरों ने प्रथम ताम्रखण्ड पर और पीछे जीवन की श्वासों पर अभ्युदय और निःश्रेयस बेच डाला ।

अन्नपूर्णा ने भीख माँगी ।

इन्द्र ने दासता के टुकड़े खाये ।

विश्वदेवा और रुद्र, वसु, यम पदच्युत हुए ।

विवर्ण आर्यत्व की मर्यादा गई ।

उसी अन्धकार में नैतिक प्रलय का स्फोट हुआ, उसी में नीति, धर्म, समाज और तत्त्व छिन्न-भिन्न और लीन हुए !!!

अब उसकी नींद खुली—

अब उसकी नींद खुली

उसने देखा—

अँधेरा है ।

उसी अँधेरे में, अंधकार के अभ्यासी कुछ अपरिचित जन्तु सर्वस्व खा और बखेर रहे हैं ।

और—

वह कस कर बंधा पड़ा है और उसके शरीर का क्रय-विक्रय हो रहा है।

पड़े ही पड़े, दृष्टि के इस छोर से, दृष्टि के उस छोर तक उसने देखा, सब कुछ नष्ट हो चुका है।

अब वह उस घर का ही कुछ न था।

अब वह उसका घर ही न था।

उसने अपने पुराने अभ्यास की एक गर्जना की।

उसने उवाल खाकर एक झटका दिया, बल लगाया, क्रोध किया।

पर, पुराना पुरुषार्थ योग्य न था।

अन्त में उसने हाथ की, और अश्रुपात किया।

निर्दय, हृदयहीन, अकृतज्ञ जन्तु ठठाकर हँस पड़े।

एक पापकामा व्यभिचारिणी ने उसे खरीद लिया—

एक पापकामा व्यभिचारिणी ने उसे खरीद लिया

उसने

उसके महाकाय भवन को पुरातत्व विभाग का कौतुकागार बनाया। अधम प्राणी की तरह उस महान् बूढ़े को पींजरे में एक कौतुक-दृव्य की तरह उस कौतुकागार के द्वार पर लटका दिया।

जिन जातियों की माताएँ उस पर मोहित थीं, वे विज्ञान और अर्थवाद की अंधी बालिकाएँ गवित-ग्रीवा उन्नत किये उसे और उसके घर को अपने मनोरंजन के लिए देखने आईं।

देव-दुर्लभ रजकण, अपदार्थ और सर्वसुलभ हुए ।

रहस्यमयी ज्ञान-गुहा विदीर्ण हुई ।

अगम्य पन्थ सर्वालोकित हुए ।

वहाँ की अप्रतिम रत्न-राशि उन वालिकाओं की क्रीड़ाकन्दुक वनी । युगों की परिश्रम-साध्य-सम्पदा जीर्णशीर्ण और छिन्न-भिन्न हो गई ।

हठात् निर्धूमोदय हुआ—

हठात् निर्धूमोदय हुआ

कर्मयोग का पुण्यपर्व आया ।

कैलाशी रौद्र तेज से ओतप्रोत हो, उत्तर के उत्तुंग हिमाचल-शृङ्ग से उठकर दक्षिण में आसीन हुए ।

यम ने दक्षिण दिशा का त्याग किया ।

भारत के भाग्य फिरे ।

दक्षिण में भारत का ध्रुव दर्शन हुआ ।

पुण्यवती पूना को तिलक मिला ।

नव्य काल का महाभाग वाल वंहाँ अवतीर्ण हुआ ।

पृथ्वी ने उसे गरिमापूर्ण गाम्भीर्य दिया ।

जल ने उसका हृदय निर्माण किया ।

तेज स्वयं शुभदृष्टि में आसीन हुआ ।

वायु ने सूक्ष्म गमन की शक्ति प्रदान की ।

आकाश ने विविध विषय व्यापकता दी ।

चण्डातप ने दुर्धर्ष तेज दिया ।
 वज्रपाणि ने दन्तावलि को वज्रद्युति दी ।
 यम ने अमरत्व का पट्टा दिया ।
 महालक्ष्मी उसके दुपट्टे की कोर पर बैठी ।
 शारदा कण्ठ का हार बनी ।
 वालारुण ने रश्मियों के प्रतिविम्ब से पगड़ी को लाल किया ।
 इस प्रकार वह देवजुष्ट सत तिलक बनकर भारत के मस्तक
 पर शोभायमान हुआ ।

भारत के मस्तक पर शोभायमान हुआ

एकवार वह भूखण्ड सुशोभित हुआ ।
 करोड़ों हृदयों से चिरंजीव होने की कामनाएँ प्रस्फुटित हुईं ।
 वह महाप्राण, महाधोप, महानरवर, अरुण अग्निशिखा और
 धवल यश के समान केसरी आरूढ़ हुआ ।

महामाया ने आँचल डालकर वलैयाँ लीं । पद्मा शुभ्र शरद
 के श्वेत पद्म पर बैठकर रत्न-थाल लेकर पूजने आई । सरस्वती
 ने वीणा लेकर ताल-स्वर-मूर्च्छनायुक्त विरुदावलि गाई । रणे-
 चण्डी ने भीषण अट्टहास किया, वह उल्लसित होकर, किलकारी
 भरकर, नर खप्पर हाथ में लेकर उठी ।

तब तक ?

धनुर्मग हुआ

कूरजन कर्जन, महामहिम आसन पर आसीन हुए । गर्व की
ज्वलन्त मूर्ति, आत्मपुजारी और कूटनीति के धुरीण धुरी ।

प्रथम चोट बंग पर हुई । बंग-भंग हुआ, और क्षण भर को
वह मूर्छित हो गया ।

पर क्षण भर बाद,

नेत्रों में तेज आ जूझा, आँसू सूखकर अग्निशिखा की भाँति
जल उठे । रणरंग की हिलोरें बंगाल में भर उठीं । हठीले बंगाली;
पौनियाँ नाग की तरह फुफकारते हुए दुर्बल तन में अडिग आत्म-
बल धारण करके उठे ।

असल सजीले शूर की भाँति ।

सभाओं के प्रचण्ड घोष से आकाश फटने लगा । स्वदेशी की
प्राँधी ने भीमकाय लंकाशायर और मैन्चेस्टर को हिला दिया ।
हुल वालाओं को भी रोष हुआ । निन्द्य विदेशी चूड़ियों को चूर-
चूर कर कर-पल्लव की मलिनता दूर की ।

फुलरशाह—

फुलरशाह

वीर की खाल ओढ़कर, कूर हृदय से शासन का भार ले,
न्याय-दण्ड में गुप्ती छिपा, चण्डमूर्ति हो रणांगण में आ उतरे ।

प्रेस एकट की लाल आँख दिखा, सिडीशन के दाँत कटकटा,

पुलिस के तीव्र भाले लेकर मत्त बंगगज को उन्होंने घेर लिया । जेल के द्वार खुले, सम्भ्रान्त सुजन, उद्ग्रीव युवक, और आत्मा-भिमानी नरवर उसमें ठूँसे गये । धैर्यहीन किन्तु तेजस्वी वीर रोप-रिपु को न रोक सके ।

‘शठे शाठ्यं’ की नीति पर षड्यन्त्र विधान रचे गये । पूर्व बंगाल में उत्पात हुए, पशुवल को अवसर मिला, महापुरुष पिसे ।

किन्तु, महायुग का प्रारम्भ हुआ—

किन्तु, महायुग का प्रारम्भ हुआ

योरोप का श्वेत दर्प, सर्प की भाँति फुफकार करता हुआ रण-भेरी की लहर में लहराने लगा ।

जर्मन के मर्द कैसर ने रक्त-रंजित अक्षत भेजकर पृथ्वी की महाजातियों को रण-निमन्त्रण दिया ।

एशिया महाभूखण्ड को बाँट खाने में व्यस्त महाजातियाँ चौकन्नी हो उठीं ।

विकराल अग्निमुखी तोपें गर्ज उठीं ।

धरती धमकने लगी ।

आकाश विचलित हुआ ।

महा नरवरों का महा नरमेघ प्रारम्भ हुआ ।

छले फ्रान्सीसी पेरिस की रंगरेलियाँ छोड़कर भाग गये । अग्निप्रलय ने नर-नारियों को निःशंक भक्षण किया । वहादुर अंग्रेज लन्दन की गलियों में दम रोककर बैठ गये । लन्दन विधवा

की भाँति रस-रंग और जीवन से रहित मूर्छित नगरी सी हो गई ।

तब भारत ने—

तब भारत ने

प्राचीन ओज प्रकट किया,

वह बूढ़ा, भूखा, नंगा गुलाम निरस्त्र और अपाहिज था ।

उसने फिर भी अपने रक्त की अन्तिम बूँद दी ।

जहाँ संसार की महाजातियों के वच्चे अपने अधिकार और जीवन के लिये लड़ रहे थे, वहाँ भारत के वच्चे अँग्रेजी सत्ता की रक्षा के लिये जूझ रहे थे ।

फ्रान्स के शीतल रणक्षेत्र में—

वर्षा, तुषार और हिम-वर्षण के बीच

सिक्ख, पठान, जाट, राजपूत और गोरखा—

अपने यौवन स्त्री पुत्रों से परिपूर्ण हृदय को संगीनों की नाँक पर वद-वद कर विदीर्ण करा रहे थे ।

कराली तोपें अग्नि वमन कर रही थीं !

जहरीली गैस दम घोट रही थी ।

भारत के लाल, ज्वलन्त जातियों से कन्धे से कन्धा भिड़ाये, अपने लाल और गर्म लोहू को, उस श्वेत दर्प की बेदी पर, धेयं, शौर्य और सहिष्णुता की चरम सीमा लाँघकर चढ़ा रहे थे ।
वे लक्षावधि जवान वच्चे सदा के लिए वहीं सो रहे हैं ।

वे सदा सोते रहेंगे ।

अपने देश और जाति से दूर, अपनी पत्नी, पुत्र, पिता और परिवार से दूर, अपने प्यारे गाँव और वाल्यकाल की क्रीड़ाभूमि से दूर, विदेश में ।

विदेशियों के लिये ।

वे मरे—

अथवा अमर हुए—

अथवा अमर हुए

अर्थवाद, कौटिल्य और वीरता के नाम पर ।

वीरता मर चुकी थी—वह पराजित हुई ।

अर्थवाद और कौटिल्य की विजय हुई ।

वीर शिरोमणि कैसर ने शस्त्रपात किया ।

और महाजातियाँ आप शान्ति रक्षा का निवटारा करने बैठीं ।

महाजातियों की शान्ति रक्षा और भाग्य-विधान का महा-वीरता और भण्ड पाखण्ड प्रारम्भ हुआ ।

नीति और रीति में जो भेद है, उसने प्रकट होकर जीवन की गुलियाँ गोलीं ।

‘जिसने लाठी उसकी भैंस’ की कहावत चरितार्थ हुई । सभी राजमुकुट ध्वंस हुए । परन्तु पृथ्वी पर फिर भी महा-अनर्थों का गूँवगूँव अँधेरी रात का एक महा-साम्राज्य शेष रह गया । जिस तक्षक

के लिये महा सर्पमेध हुआ था, उसमें सर्पवंश का नाश होने प
भी तक्षक तो रह ही गया ।

भारत ने क्या पाया ?

भारत ने क्या पाया

नमकहलाली पर रक्तदान करके ?

निरुद्देश्य वीरत्व का प्रदर्शन करके ?

सुदूर विदेश में लोथों पर लोथों की भरमार करके ?

केवल दो धक्के !!!

भारत क्रीतदास की भाँति जीवित रहे !!

उसे जीवित रहने को आहार और श्वास लेने भर को वायु
मिलती रहेगी !!

चालीस करोड़ नर-नारियों से परिपूर्ण भारत क्या इसीलिए
जिये ?

जो योद्धा है ।

जो व्यापार पुंगव है ।

जो काव्य शिरोमणि है ।

जो विज्ञान का आचार्य है ।

जो महाजातियों का पितामह है ।

जो सर्वस्व खोकर भी प्रतापी जातियों के वरावर कंधा भिड़ा
कर अन्त तक खड़ा रहा । वह—

जीवित रहने भर को आहार और श्वास लेने भर को वायु पाकर जीवित रहे !!!

वह अँग्रेजों का विजित देश है । वह बलपूर्वक सदैव अँग्रेजों के अधीन रखा जायगा । प्रत्येक मूल्य पर !!!

महाशक्तिशाली अँग्रेज ।

महाशक्तिशाली अँग्रेज

न्याय और सभ्यता का वितरण करने के अभिमानी, अपने समस्त विश्व-व्याप्त श्वेतदर्प का नख-शिख शृङ्गार किये, जगत के महान् प्रांगण में कटिवद्ध खड़े थे और कह रहे थे—जो कोई हमारे दर्प के सम्मुख तन कर खड़ा होगा, जो कोई मर्द का वाना पहनेगा, जो कोई स्वच्छन्द वायु में श्वास लेगा—उसे हम अपने लौहमय पंजे से पीस डालेंगे !!!

प्राचीन महाराज्यों की राजधानी ।

प्राचीन महाराज्यों की राजधानी

दिल्ली, अक्षय यौवना पुंश्चली, हिन्दुत्व के विध्वंस पर बाँकी अदा से सजधज कर खड़ी उन्हें घूर-घूर कर देख रही थी ।

अ० स्त०—१२

ज्वलन्त सूर्य के प्रचण्ड उत्ताप में, जिस दिन तुर्क और ईरान के बर्बर नर पशुओं के साथ अपने लाखों बच्चों की तड़पती हुई लाशों पर अट्टहास करते हुए—उसने रक्त-मद्य पीकर महाताण्डव नृत्य किया था और अपने जगन्मान्य गौरव और अनिन्द्य जीवन पर लात मारकर अभागिनी मन्दोदरी की भाँति दुर्दम्य वासना से उन्मत्त हो पतिघाती की अंकशयिनी हुई थी ।

और, उसी उन्माद में शील और संकोच का रत्ती-रत्ती रस उसने बखेर कर बहा दिया था । इस प्रकार काल और घटनाओं के प्रचल थपेड़ों ने धर्मराज की इस महिमामयी महिषी को ठोस पाषाण प्रतिमा बना दिया !!!

पृथ्वीतल पर कौन यति था जो उसे अपनी वज्रदृष्टि से भस्म करे ।

उसी—

प्राचीन महाराज्यों की राजधानी में ।

प्राचीन महाराज्यों की राजधानी में

नरवरों का रक्त अभिषेक हुआ ।

मानव शक्ति का उत्कर्ष भीषण विध्वंस के रूप में अवतरित हुआ । राज-पथ पर, जहाँ वस्तु विक्रेताओं के निश्चिन्त प्रवास अबोध बालिकाओं का साग्रह आह्लाद, महिलाओं का उत्सुक हृदय निरन्तर आनन्द वर्षा कर रहा था, हठात् कराली मशीनगन ने रक्त वमन किया !!

पृथ्वी और आकाश काँपने लगे ।

चाँदनी चौक पर मृत्यु विभीषिका फैली । सत्तावन का अन्तिम क्षण फिर वहाँ आया । प्रक्रुद्ध रुद्र महाताण्डव नृत्य थिरक-थिरक कर नाचने लगे । डमरू का भैरवरव वातावरण में व्याप्त हुआ । दानवी ज्वाला गड़गड़ाती, महासंहार करने लगी । अवोध शिशुओं के शरीर छिन्नभिन्न होकर रूई के पहलों की तरह बिखर गये !!!

युवकों के विदीर्ण हृदय से रक्त के फव्वारे वह चले । मस्ती की सिसकारी के स्थान पर उस आनन्दालोक में हाय भर गई !!!
संन्यासी ।

संन्यासी

आधी शताब्दी तक प्रकाश और अन्वकार के रहस्यों पर मनन करता हुआ ।

जों विश्रान्ति की शय्या पर घुटने टेक चुका था ।

थकित पाद, और शिथिल बाहु जिसकी झुकी पड़ती थी ।

इस घोर क्रन्दन को सुनकर चौंका ।

जीवन की अन्तिम घड़ियों में—हृदय के रस के अन्तिम विन्दु-
कण उसके नेत्र-कोण पर उमड़ आये ।

वृद्ध संन्यासी—

अपने भगवे वस्त्रों को सँभालकर—अपने महान् पय से तत्काल लौटा ।

वहाँ !

वहाँ !

जहाँ—लौकिक कल्याण की जगह लौकिक प्रलय हो रहा था।

जहाँ—शक्तिधर शिव रौद्र-नृत्य कर रहे थे।

उसने क्षण भर खड़े होकर देखा।

सब अलौकिक था।

रक्त सौन्दर्य पर बूढ़ा मोहित हो गया।

यौवन की उठती तरंगों में जिन्होंने मदिरा की परछाई में रक्त-सौन्दर्य का अध्ययन किया है, वे बूढ़े संन्यासी के मोह को समझें।

आगे बढ़कर

उसने अपना हृदय खोलकर दिखा दिया।

उसने, बूढ़े संन्यासी ने यौवन के रसिया की तरह कहा—

“हे विश्वध्वंसिनी ! इस हृदय में निवास करो।”

यौवन और आवेग की मतवाली ठठा कर हँसी।

शुष्क और जीर्ण मांस खण्ड उसे पसन्द न था। असंख्य यौवन और शैशव उसके सम्मुख थे।

प्रत्येक में ताजा रक्त था। अदम्य यौवन था।

प्रत्येक को उसने चखा और तृप्त होकर भोगा ॥

असूर्यपश्या महिलाएँ।

असूर्यपश्या महिलाएँ

और अवोध मुग्धाएँ रोने लगीं ।

सरल-तरल स्नेह की सजीव मूर्तियाँ; सौन्दर्य और सुकुमारता की वास्तविक प्रतिलिपियाँ, पुरुष-स्तम्भों की आशा लतिकाएँ, आशा और विश्वास की देवियाँ ।

अपने चिर अभ्यस्त सहज हास्य को खोकर—

दारुण चीत्कार करने लगीं ।

वातावरण भयंकर निनाद से गुंजायमान हुआ ।

इन आपदा-ग्रसिताओं को देख-देख कर रणचण्डी सौतिया डाह से अट्टहास कर रही थी ।

क्षण भर बाद ।

क्षण भर बाद

पंजाब के सिंहद्वार पर,

अमृतसर के अमोघ प्रभाव को विदीर्ण करता हुआ,
गोविन्दसिंह के जाग्रत पहरों का उपहास करता हुआ,
प्रलय गर्जन उठा ।

उपर !

डायर

श्वेत दर्प की अक्षुण्ण पाषाण-प्रतिमा अचल आ खड़ी हुई ।
अबोध नेत्रों ने देखा,
आतंक की देवी जलियाँवाला बाग को रो रही है ।
कुछ समझ में नहीं आया ।
क्षण भर बाद ही ज्वाला का मेह बरसा !!
अतर्क्य भोगवाद की तरह विध्वंस आ उपस्थित हुआ ।
मैदान में चरते पशु, बच्चों को बहलाते हुए पिता, वातचीत
करते हुए मनुष्य, सब ढेर हुए !!!

वे पंजाबी सिक्ख—

जिन्होंने सुदूर फ्रान्स के मैदान में संगीनों की नोक पर अँग्रेजी
साम्राज्य की लाज बचाई थी—इस प्रकार अपने ही घर के द्वार
पर पागल कुत्ते की तरह मार डाले गये ।

फिर ।

फिर

मानव सभ्यता के शैशव की जो मधुरिमामयी छवि उर्वरा
पंचनद पर छा रही थी, उसे विदीर्ण करती हुई—सहस्र उल्का-
पात की तरह वज्र-निनाद करती हुई—शान्ति और आशीर्वाचनों
से उत्कण्ठित, उद्ग्रीव लक्षावधि निरीह नर-नारियों पर आकाश
से व्योमयानों से संहारक अग्नि-वर्षा हुई ।

हिंसक और निर्लज्ज सभ्यता ने और भी उत्साहित होकर असहाय अवलाओं की लाज लूटकर साँस ली ।

वे, सहस्त्र-सहस्र अवलाएँ, वेआवई की कीचड़ में सना हुआ अपना आँचल लिये, रक्त के आँसू भरे, शून्याकाश में, असमर्थ देवताओं को देख रही थीं और उनके प्राणों से प्यारे पति, कलेजे के दूक पुत्र लोहू-लुहान धूल में निर्जीव पड़े थे ।

मसीह !

मसीह !

जो समस्त जगत के प्रेम और क्षमा के देवता तथा सहन-शीलता, धैर्य और आत्म-बलिदान के उत्कट पथ-प्रदर्शक हैं, जिनके नाम पर लक्ष-लक्ष नरबलि शान्ति और उत्साह से आहुत की गई हैं, उनकी आत्मा स्वर्ग से देख रही थी और रो रही थी । अपनी स्वाभाविक करुणा और हृदय की महत्ता से कह रही थीं—

हे महान् प्रभु ! इन अभागों को क्षमा कर । हाय ! ये मेरा लोहू पी रहे हैं और माँस खा रहे हैं ।

श्वेत दर्प पर उसका कुछ प्रभाव न था !!!

ज्वालामुखी ।

ज्वालामुखी

देखने में अपदार्थ, किन्तु अगाध तक उसका गर्भ विस्तार था, ऊपर से प्रशान्त और सुहावना दीखता था, किन्तु भीतर तरलाग्नि की असह्य और दुर्धर्ष ज्वालाओं का समुद्र उमड़ रहा था । विश्व के दुखियों की वेदनामय हाय की निःश्वास—उसे लुहार की मरी हुई खाल की धोंकनी की तरह भड़का रही थी । सत्ता का भीषण उत्ताप उसे सह्य न था ।

उसका गगनस्पर्शी, प्रशान्त, क्षुद्रमुख एकटक अनन्त आकाश से कुछ कह रहा था ।

आकाश में पूर्ण अवकाश था ।

अपरिमित ज्वालाग्राही द्रव-सत्त्व संग्रह हो रहे थे ।

जगत के पाप, दुःख, वेदना, पीड़न और परितापों की ज्वाला नदियों का, भूगर्भ मार्ग से चुपचाप उस अग्नि-समुद्र में संगम हो रहा था ।

अकस्मात् ।

अकस्मात्

स्फोट हुआ ।

प्रथम एक अकल्पित सूक्ष्म धूम-रेखा उठी और सातों आकाश तक क्षण भर में पहुँच गई ।

व्यवसाय-व्यस्त जनों ने देखा और अपने धन्य में लगे ।

अच्छी तरह देखने और समझने का किसी को भी अवसर न था ।

वह क्षीण धूम-रेखा धीरे-धीरे पुष्ट होकर एक भीमकाय स्तम्भ हो गई ।

जिसका एक सिरा भूलोक में, और दूसरा स्वर्लोक में था, इसके बाद ही—

आरक्त पीत ज्वाला की लहरें दीख पड़ीं ।

प्रतिक्षण वे वृद्धिगत होती गईं ।

दूर से देखने में मन-मोहक थीं ।

सर्प सौन्दर्य की तरह वे अतिशय मनोमोहक थीं ।

मूढ़ श्वेतदर्प ने देखा

और हँसकर कहा ।

‘क्या मनोरम कुदरत का खेल है ।’

उसने सत्ताओं के मूल अवयवों को एकत्र कर अपना अवशिष्ट कौशल समाप्त किया ।

दुर्धर्ष क्षोभ हुआ ।

दुर्धर्ष क्षोभ हुआ

सहस्र उल्कापात की तरह, नेत्रों की ज्योति को निष्प्रभ करता हुआ, ज्वालामयी धारा का एक वेगवान प्रवाह—एक बार अतर्क्य गति से आकाश तक उन्नत होकर जगत पर वरस गया । जगत की जातियां स्तब्ध खड़ी होकर देखने लगीं ।

संतप्त भारत को देखते ही जल उठे ।

कानून की क्रीड़ास्थली—अदालत के गर्भ में संतप्त शलाका की भाँति प्रविष्ट हो उन्होंने वहाँ के गुरुडम को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

ग्रेट ब्रिटेन के भेड़ियों की यह माँद कम्पायमान हुई ।

वे बन्द द्वार ।

वे बन्द द्वार

ज्योंही उनके लिये खुले, त्योंही भारत की यौवन और बलिदान से परिपूर्ण आत्माएँ उसमें दौड़ पड़ीं । उन मनहूस दीवारों के भीतर—जहाँ खूनी, कलंकी और पतित दण्ड भोग रहे थे, भारत के महा नरमुण्डों की क्रीड़ास्थली निर्मित हुई । राष्ट्रीय गानों से वह अपावन वायु पूत हुई । महान् चरणों की रज से वह कलुषित भूमि गौरवान्वित हुई । स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के पुजारियों ने ज्योंही वहाँ वसेरा लिया—वहाँ के भाग्य जाग गये ।

वहाँ भारत के लाखों नर-नारी, आनन्द और उल्लास वसेरने लगे ।

आनन्दी वन्दी ।

आनन्दी वन्दी

श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण की भाँति वह अदालत में दण्ड पाने को जा बैठा ।

दण्ड की विभीषिका से सर्वथा अज्ञान वालक की भाँति उसने कौतूहल से कहा—“हाँ, मैं अपराधी हूँ ! कहो, क्या दण्ड दोगे ?”

सरकारी वकील ने पूरी वाग्मिता दिखाकर उसे अपराधी सिद्ध किया और अधिक से अधिक दण्ड देने का अनुरोध किया । विचारक ने उसे ६ वर्ष का कारावास प्रदान किया ।

उस अनुग्रह को प्राप्त कर उसने मुस्कुराकर सरकारी वकील से कहा—“अब तो खुश हुए ?”

उस कुण्ठित कानूनी व्यक्ति ने उसी दिन अपना व्यवसाय त्यागा ।

विचारक के हृदय में वह भावना जाग्रत हुई, जो मातृवध करते समय परशुराम के मन में पैदा हुई थी ।

जो अँग्रेज ।

जो अँग्रेज

तुच्छ वंश और क्षुद्र प्रदेश में जन्म लेकर केवल अपनी मुठ-मढ़ी के बल पर समस्त पृथ्वी के पंचमांश को वेधड़क भोग रहे थे, जिन्होंने चार सौ वर्षों से समस्त एशिया और योरोप की नकैल हाथ में ले रखी थी, जिन्होंने योरोप के भारी से भारी वीर से

लोहा लेकर विजय पाई थी, जिनकी शैतानी-आकांक्षाओं के मारे पृथ्वी भर की जातियाँ सुख की नींद नहीं सो सकी थीं, जिन्होंने जर्मनी की चालीस वर्षों की रणसज्जा और कैसर की महाजातियों को थरा देने वाली सत्ता को परास्त कर अपनी मूँछों को आसमान तक ऊँचा कर लिया था, जिनके सिर्फ वारह सौ मनुष्य चालीस करोड़ नर-नारियों से भरे भूखण्ड को मदारी के वन्दर की भाँति उँगली के इशारे से नचा रहे थे, जो सारी पृथ्वी के राजमुकुटों को विध्वंस होते देख जरा भी विचलित नहीं हुए, और अचल भाव से अपना अकेला साम्राज्यवाद लिये खड़े थे, उसने उन्हें 'शैतान' कह कर पुकारा ।

उसने उन्हें शैतान कह कर पुकारा

वह क्षीणकाय पुरुष सत्त्व, जिसकी सूखी हड्डियों पर केवल चर्म लेप था, और कमर में केवल मोटा खदर का एक टुकड़ा, हाथ में शस्त्र के स्थान पर चार अंगुल की पैन्सिल थी ।

सात्विक क्रोध के आवेश में उसने अँग्रेजों को जो गाली दी थी, उसे उसने उसी पैन्सिल के टुकड़े से कलमबन्द कर दिया, उसमें फलाफल की उसे चिन्ता न थी, और जब सारा भारत उनकी भकटीविलास को ताक रहा था, उसने खड़े होकर कहा—

मैं इस शैतानी सल्तनत का नाश करूँगा

तीस करोड़ प्रजा ने सन्देह से उसे देखा । मुँहलगे भिखारियों ने कहा—‘पागल है ।’

किसी बुद्धिमान ने कहा—‘मूर्ख है ।’

अँग्रेजों ने कहा—‘वाह ! अच्छी दिल्लगी है, कम कूबत और गुस्सा ज्यादा ।’ वे ठठाकर हँस पड़े ।

सैकड़ों-हजारों लाखों करोड़ों अविश्वासपूर्ण हताश दृष्टियों की हतौज चमक उस पर पड़ी ।

उसने दुर्जय आत्मतेज से अभिभूत होकर,

उच्च स्वर से एक पुकार लगाई ।

उच्च स्वर से एक पुकार लगाई

उस पुकार में एक जादू था, उसे सुनते ही हजारों मनुष्यों की खुदी न जाने कहाँ चली गई ।

पहले एक एक, फिर दो दो, और चार चार, फिर दस दस और सौ सौ, नरवर कन्धे से कन्धा भिड़ाकर उसके साथ खड़े हो गये ।

उनमें हिन्दू थे, मुसलमान थे, और थे ईसाई । जवान भी थे, बूढ़े भी थे, बालक भी थे, स्त्रियाँ भी उनके साथ थीं । देश की माताएँ थीं, बहुएँ थीं—बेटियाँ भी थीं, कुछ राजाओं को लज्जित करने वाले धनकुवेर थे, कुछ संसार के प्रचण्ड धाराशास्त्रियों के

मुखिया थे, कुछ पृथ्वी के श्रेष्ठ राजनीतिक पण्डित थे, कुछ तेज के पुतले थे—जिनकी हुंकार के साथ सात करोड़ तलवारें तंगी हो सकती थीं। कुछ अपनी आयु का तृतीयांश व्यतीत किये हुए धवल केशधारी महज्जन थे।

सबका एक स्वर था।

सबका एक स्वर था

सबका एक मत था, एक वेश था, एक भाव थे। वे अवोध शिशु की भाँति उसकी आज्ञा के आधीन थे। उसने कहा—

“अकम्पित रहो,

“अभय रहो,

“मरने का अवसर कभी न खोओ,

“कभी किसी को मत मारो,

“आत्मनिर्भर रहो,

“अहिंसा और सत्य, तुम्हारा बल है,

“तकली और चर्खा तुम्हारा शस्त्र है”,

सब सहमत हुए। इसके बाद उसने धनकुवैरों की ओर दृष्टि की। देखते ही देखते करोड़ रुपयों का मेंह बरस गया।

अहमदाबाद में।

हमदाबाद में

राष्ट्र की महासभा जुड़ी थी, उस जीती-जागती धवलपुरी देखने वालों ने जो देखा, वह ग्यारहवीं शताब्दि के बाद इन आठ सौ वर्षों में भारत की आँखों को देखना नहीं नसीब हुआ था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भिन्न-भिन्न भाषाभाषी—भिन्न-भिन्न जाति और धर्म के लोग एक ही भाँति का वस्त्र पहिने हुए थे, एक ही भाषा बोल रहे थे, और एक ही ढंग से रह रहे थे। सबके इरादे एक थे, सबका एक मन्सूवा और एक ध्येय था। उन मन्सूवों में, ध्येय में सबका सर्वस्व बलिदान सा हो रहा था।

क्या यह अपूर्व न था ? मराठे जब उत्तर-भारत को लूटने गये थे, तब यदि उनके मन में ये भाव होते ? मीरजाफर जब कलाइच का गधा बना था, तब यदि हिन्दू-मुसलमानों में ये भाव होते, तो क्या भारत के इतिहास में आज हर साल करोड़ों आदमियों को भूखों मरने के हवाले देखने को मिलते ? क्या भारत के मर्द और औरतें फिजी में कुली बनकर अपनी पत्त खोते ?

गंगा की तरंग के समान श्वेताम्बरधारो स्त्री-पुरुषों के आवा-गमन प्रवाह को देखकर वह नंगा आदमी, लालटेन के एक खम्भे की आड़ में खड़ा हँस रहा था, सामने हिमालय के समान शुभ्र पण्डाल था।

उसका वह शुभ्र हास्य उस शुभ्र धवलपुरी पर शोभा बख्तर रहा था।

उसका यह शुभ्र हास्य उस शुभ्र धवलपुरी पर
शोभा बखेर रहा था

वह एक भयानक आत्म-युद्ध की घोषणा कर चुका था, वह कठिनाइयों के काँटों से भरे मार्ग में बहुत आगे बढ़ गया था, वह देश के बड़े-बड़े नर रत्नों को—लाखों नर-नारियों के साथ, जोखिमपूर्ण कार्य में प्रवृत्त होने की भारी जिम्मेदारी सिर पर ले चुका था। फिर भी वह हँसता था, चिन्ता और क्षोभ की छाया उसे छू भी न गई थी।

नटवर।

नटवर

अपनी कला का अप्रतिम विकास, शूलपाणि की अमरपुरी की रंगभूमि में अवतरित था, हिन्दुत्व का यौवन उसका हस्ता-मलक था। वह शुभ्रवेशी; शुभ्र स्मश्रुचारी मुनि वशिष्ठ की भाँति अपने गौरव में दैदीप्यमान था। वह चतुराई से दो अश्वों पर एक ही काल में आसीन होने की करामात रखता था, उसकी रजत वाणी में सम्मोहिनी शक्ति थी। उसने शूलपाणि की अमर-पुरी में माया-महल निर्माण किया और उसमें हिन्दुत्व के यौवन को प्रतिस्थापित कर दिया, वह पुजारी की भाँति चिन्तित हुआ।

जब तरलाग्नि का तेजस्वी प्रवाह उस मायापुरी की नींव में

टक्कर देने लगा तो उसने विकल बालक की भाँति अश्रु-वर्षण किया, विकम्पित माया-महल हिलकर रह गया ।

मोती ।

मोती

जिसकी आवरु की आव में मृतप्रायः राष्ट्र के जीवन की झलक थी । दरिद्र राष्ट्र का वह अनमोल रत्न था, जिसे छूकर कितने ही पत्थर रत्न बन गये । उसकी उज्ज्वल आभा से साम्राज्य के नूतन हर्म्य दिप उठे । चेम्बर की उस बहुमूल्य कण्ठावली में उस एक मोती के सामने सारे मणि काँच दीख पड़ते थे । उसकी आरपार जाने वाली आँखें कूटनीति के डोरे को सदा छिन्न-भिन्न करती रहीं ।

पृथ्वी पर किस रत्नगर्भा ने वैसा और मोती उत्पन्न किया ? किस देश को वैसा सौभाग्य-मणि प्राप्त हुआ ? वह दरिद्र माँ का महान् मोती, बिना ही पूरी कीमत कूते गुदड़ियों में पड़ा था, और अन्त में पिसकर भारत के रजकण के प्रसाद से अक्सीर रसायन बन गया ।

दास ।

दास

धोंसे की धमक के साथ मारू की ताल पर तड़प कर मोर्चे पर जूझ मरने के लिये अनगिनत यौवनों को माया बल से प्रकट कर देने वाला जादूगर, बाघ की भाँति बाँकी अदा से आक्रमण के लिये सदैव समुद्यत दलपति, बंग देश के ओज का अवतार, समर्थ विद्रोही, जो आकाश में इन्द्र-धनुष की भाँति उठकर विलीन हो गया !! युवक वर्ग का प्रौढ़ अवतार, नवीन राष्ट्र की छाया प्रतिलिपि ।

विजय की वैजयन्ती को तरलाग्नि में पखार दुर्धर्ष द्वार में घुस गया । जहाँ प्रखर मस्तिष्क भारत के भाग्य की लोरियाँ गा-गा कर सुला रहे थे । उसकी ललकार से साम्राज्य की दीवारें हिल गई, सोया हुआ भारत का भाग्य जाग उठा ।

वह शेर ।

वह शेर

जो तेरसठ बरस तक साम्राज्य के इस्पाती पींजरे में बद्ध रहा, जिसने अपनी दहाड़ों से पींजरे की जड़ें हिला दीं, जो पृथ्वी पर अपनी धाक का प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता था, जिसे गुलाम देश में पैदा होने, गुलाम देश में साँस लेने, और गुलाम दोस्तों पर विश्वास करने का पूरा पुरस्कार जीवन में मिला । दिल्ली के निहिगाघर के पक्षी जिसे भय और औत्सुक्य से देखते थे,

समुद्र की लहरों ने जिसका चिरकाल तक मार्ग रोक रखा था, जो पृथ्वी की महाजातियों की दृष्टि में विक्रमशाली प्रमाणित था—तरलाग्नि को स्पर्श करते ही धवलयश में सराबोर हो गया ।
मसीहा ।

मसीहा

वह दिल्ली की एक तंग गली में रहता था, उसे ढूँढ़ने वाले उसे एक छोटी सी अँधेरी कोठरी में एक सुखद कालीन पर दो मसनदों के सहारे अलस निद्राल पड़ा पाकर मुस्कुरा देते थे । वह मृदुभाषी, मृदुल विचारधारा का स्रोत, माध्यम वृत्ति का नरवर, उत्तर से दक्षिण तक लक्षावधि मुसलमानों का आदर और श्रद्धा का पात्र था ।

वह उस कुल में जन्मा था जिसमें शहरी कोमल भावना, देहनवी लताफत और मानव हितैषणा बपौती थी, वह लाखों मनुष्यों के लिए जीवनदाता था, अन्त में उसने तरलाग्नि स्पर्श से स्वयं भी अमर जीवन पाया ।

गुरुदेव ।

गुरुदेव

कैलाश के समान धवल और महान्, विश्वसंगीत की बीणा की मूर्छना के समान प्राण संजीवक और युग की विभूति के समान अमोघ उनका व्यक्तित्व था, पृथ्वी का नरलोक उनके सम्मुख अवनत मस्तक किये खड़ा था, महादेवी शारदा उन्हें अभिषिक्त कर चुकी थी ।

उस दिन उन्हें, उस आनन्दी बन्दी की बुभुक्षित शैया के किनारे, कारागार के उस ऐतिहासिक आम्रवृक्ष के नीचे नतमस्तक खड़े देख, भारत के नेत्र विमूढ़ हो गये ! शुभ्रता की वह गंगा जो भारती के इस वरद् पुत्र की आत्मा से प्रवाहित हो रही थी—जब अनायास ही उस तरलाग्नि में मग्न हो गई—तो मानो कवित्व कल्पना जगत से सत्य में ओतप्रोत हो गया ।

सरदार ।

सरदार

विन्ध्याचल की कूटशिखा की भाँति सीधा और साफ, स्थिर और नैसर्गिक । जिस प्रकार पर्वत से टक्कर खाकर वायु में निर्घोष उदय होता है, उसी भाँति उसका घोष था । ज्वाला समुद्र का निकटतर बन्धु और ज्वालामुखी का प्रतिस्पर्धी, सर्दारी जिसका जन्मसिद्ध अधिकार था । जो बन्धन में उन्मुक्त, वेदना में विनोदी,

रुदन में सस्मित, पारदर्शी सत्व था । प्रवाहित ज्वाला की एक अमूर्त मूर्ति—जो भीतर बाहर सदैव एकरस रहा ।

कराँची के उन्मुक्त मंच पर, जिसने देश के क्षुब्ध युवकों को संयम का पाठ पढ़ाया, जिसने धैर्य-विवेक-साहस उदारता की लक्षावधि मनुष्यों को शिक्षा-दीक्षा दी ।

राजर्षि ।

राजर्षि

सावधान और चमत्कृत, नीरव किन्तु सतेज, जिसका समस्त ओज प्रच्छिन्न नेत्रों में, और अचल प्रतिज्ञा ओष्ठ सम्पुट में सदा विराजनान रहती थी, जो भाग्यशाली भारत के दक्षिण पार्श्व में—उस पूज्य पितृलोक के वारिस की भाँति आसीन था, जिसके सम्मान में हिन्दू कभी दक्षिण में पैर करके नहीं सोते हैं । वह जब बोलने खड़ा होता था तो ऐसा प्रतीत होता था—मानो राजर्षि भारत अपना पुण्य दक्षिण हाथ उठाकर आशीर्वाद वर्षा कर रहा हो ।

जब असह्य अग्निस्नान के ताप से उत्तप्त सहस्रों जन असंयत होकर अँधेरे में अन्धे और निरीह होकर टकराने लगे थे, तब एक यही दाक्षिणात्य अचल खड़ा था ।

मुसल्लिमान ।

मुसल्लिमान

साम्प्रदायिक ढकोसलों से उस पार जो कर्तव्य और नीति पर अपने को मुसल्लिम ईमान रख सका, जिसने महावेदी के उत्तुंग शिखर से हमारे सामूहिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या को हल किया, जो यथार्थ नाम अजातशत्रु है, जिसने सात करोड़ प्राणियों में सबसे अधिक अपने को समझा और समझाया। तरलाग्नि को छूकर उसने जीवन को बलि-वेदी पर वखेर दिया और भिन्नता का माध्यम वन भविष्य के लिये अमर हो गया।

यौवन।

यौवन

सुन्दर, सुगठित, सुसम्पन्न राष्ट्र ने यौवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब, जिसकी कर्मठ चेष्टाओं से और उत्साहपूर्ण हुंकारों से सुदूर समुद्र के उस पार के सागर-कूल विचलित होते रहे थे, जो राष्ट्र के जीवन की रीढ़ की हड्डी थी, जो भविष्य का भाग्य-निर्माता माना गया, जिसके साहस, तेज और उद्ग्रीव वाग्धारा और योजना से ब्रिटिश साम्राज्य डगमग करने लगा, जो अग्नि-सागर का दत्तक पुत्र प्रकल्पित किया गया, शीर्ष स्थान पर खड़ा था।

मुमुक्षु।

मुमुक्षु

श्रीमन्ताई के आभामय मुकुट के स्थान पर जिसने घवल गान्धी टोपी पहनकर स्वेच्छा से त्याग और वेदना का मार्ग ग्रहण किया और हठपूर्वक तरलाग्नि के स्नान का अभ्यास किया। जिसने अपने देश और उसकी प्रतिष्ठा पर अपने को अर्पण कर दिया, भक्ति और विश्वास जिसके जीवन की शोभा रही, जो सदैव ही श्रेय की तलाश में व्यग्र रहता रहा और भारत की विभूति जिसके प्रति अधिकाधिक निकटस्थ रही, अग्नि-स्नान कर उसने मन-वचन की एकान्त पवित्रता प्राप्त की और ऐहि-लौकिक बन्धनों के प्रति मुमुक्षु बन बैठा।

अजातशत्रु।

अजातशत्रु

भगवान् बुद्धदेव की स्थली पर जिसकी सेवाएँ मूर्तिमान होकर विचरण करती हैं, जिसके जीवन में सफलताएँ आज्ञा पालन करती हैं। जिसने अधिक से अधिक त्याग, साहस और परिश्रम किया है। मोहमयी-बन्धनों के समुद्र तट पर भटकती हुई देश की राष्ट्रीय नौका को जिसने अपने दृढ़ हाथों से खेया। एक दिन वह बुद्धि का विक्रेता था और उसके बाद वह बुद्धि का दाता प्रसिद्ध हो गया। उसने अस्त-व्यस्त भारत की राष्ट्रीयता को सुव्यवस्थित बनाने में अपने को अस्तव्यस्त कर डाला। जिसके हाथों राष्ट्रीय

रंगमंच सौंपकर आनन्दी-वन्दी ने हरिजन जाप का अनुष्ठान प्रारम्भ किया ।

जवाहर ।

जवाहर

त्याग और तप का देवता, वेदना की कंटकमयी शैया पर स्वेच्छा से सोने का अभ्यासी, पृथ्वी की महाजातियों के भविष्य, जीवन-संग्राम को अधिकाधिक समझने वाला, आत्माहुति का महायाज्ञिक, तरुण भारत का बादशाह था । करोड़ों आत्माएँ उसके पद-चिह्नों पर चलने को उत्सुक थीं ।

पंजाब की मर्मस्थली में श्वेत अश्व पर आरुढ़ होकर उसने स्वाधीन गर्जना की, राष्ट्र के उस अधिपति का उसके पिता ने अभिवादन किया और अपने पिता के पद को धन्य किया, जिसकी राष्ट्रीय ऋण सम्बन्धी घोषणा से महाजातियों के स्वर्णमान पर राहु का ग्रास लगा । जो साम्राज्यवाद के लिये प्राची में सर्वाधिक भय की वस्तु रहा ।

स्फुलिंग ।

स्फूर्लिंग

अथवा चिनगारियाँ, जो उठते हुए भारत के सौभाग्य पर हर्ष मनाने को अग्नि कौतुक की भाँति, उसी अग्निस्तान में पुनीत होकर एक ज्वाला चमत्कार भारत के भाग्य निर्माताओं की क्रीड़ा-स्थलो में दिखाकर चमत्कृत कर गयीं। चिनगारियों की लाल वर्षा करके अन्त में रस्सी के फन्दे पर, क्षण भर ऊपर नाच कर अँगारे और फिर राख के ढेर बन गईं, जिसे निर्द्वन्द्व वायु ने उड़ा-उड़ा कर देश की आत्माओं में “इन्किलाव जिन्दावाद” की प्रति-ध्वनि ध्वनित कर दी। शून्य आसनों पर जिनके लिये अनुपस्थित-न्याय वितरण किया गया और जिनकी उष्णता और धुआँ सुदूर पूर्व तक फैल गया, आतंकवाद की वे अमूर्त मूर्तियाँ अन्ततः तेज और त्याग की स्मृतियाँ बखेर गईं।

तदनन्तर ।

तदनन्तर

जब ज्वलन्त जातियाँ भौतिक-अग्नि में ध्वस्त होने के लिये महानरमेध की भूमिकाएँ रच रही थीं, भारत की यह सभी जाग्रत विभूतियाँ मानव जीवन को निर्भय रहने की रीतियों की खोज में व्याकुल थीं।

यूरोप का श्वेत दर्प एशिया की नवोत्थित हुंकार से चौकन्ना हो रहा था। एशिया की अलस और आत्मविस्मृत जातियाँ अब

केवल वैयक्तिक और आर्थिक तुष्टि पर निर्भर रहना नहीं चाहती थीं। वे समझ गई थीं कि जीवन का मूल्य रोटियाँ नहीं हैं। रोटियों ही के लिए लाखों पुरुषों को महाजातियाँ नहीं कटाया करतीं।

कौरव-पाँडव युद्ध, ग्रीक और ईरानियों के संघर्ष, रोमन महाराज्य की पृथ्वी-विजय, योरोप के जंगलियों का दक्षिण में आना, अरबों का जंगलों में भटकना, जेरूसलम की दीवारों पर फ्रूजेउरस का धावा बोलना, मुहम्मद का नंगी तलवार लेकर मैदान में आना, प्रोटेस्टेन्ट और कैथलिकों के सदियों के झगड़े, फ्रान्स के प्रजातन्त्र के सम्मुख समस्त योरोप का एक साथ अड़ जाना, प्राचीन इटली और ग्रीस का पुनर्जीवित होकर घूमना, फ्रान्स और जर्मनी का साधारण बात पर लड़ पड़ना, रूस और तुर्क का धर्म के वहाने भिड़ जाना, और ग्रेट ब्रिटेन का भारत में आकर चालीस करोड़ मनुष्यों की छातियों पर लाल लोहे की वर्षा करके अधर्म का लोह वहाना केवल एक रोटी के टुकड़े के लिये नहीं है।

राम, कृष्ण, अलेग्जेण्डर, सीजर, नैपोलियन, पिथोरस, हर्नि-वाल, सीथियो, लियोनिडस, पोरस, रोटी के टुकड़े के लिये धरती को कम्पायमान करके लाखों-करोड़ों प्राणियों के लोह से धरती को लाल नहीं कर गये। उनके इस महान् कार्यों में एक गम्भीर प्रश्न था, राज्य-सत्ता, नीति, धर्म और धर्म-नीति, स्वातन्त्र्य, अधिकार, कर्तव्य और जनपद का निर्भय सामूहिक जीवन।

खुला षड्यन्त्र।

खुला पड्यन्त्र

एशिया के लाखों नरनारी योरोप की सत्ता से उन्मुक्त होने को खुला पड्यन्त्र करने को कटिवद्ध हो उठे और सैकड़ों वर्षों से गुलामों की जंजीरों में जकड़ी हुई जातियाँ स्वाधीनता का जीवन प्राप्त करने को वेचैन हो उठीं। वे अपने बड़े हित की रक्षा के लिए छोटे हितों को त्यागने को इच्छुक थीं।

भारत में।

भारत में

अन्धकार में डूबी हुई जाति के भीतर ही भीतर एक नवीन जाति उत्पन्न हो रही थी। प्राचीन हिन्दू जाति में जो धर्म-ग्लानि के कारण क्षुब्धता उत्पन्न हो गई थी—उसे अनेक महान्-आत्माओं ने अपनी शक्ति और प्रतिभा से नष्ट कर दिया था। उनके अमोघ प्रभाव से देश में नवीन जातीयता के बीज उग आये थे। जिनमें साहसी, तेजस्वी, उच्चाशय, उदार, स्वार्थ-त्यागी, परोप-काररत देश-हितैषी वीर फल रहे थे। वृद्धों और युवकों की विचारधारा और कार्यक्रम में अनैक्य तथा विरोध होने लगा था। अन्धकार का युग-कलियुग व्यतीत सा हो रहा था। देश का तरुण नगडल अग्निस्फुलिंग के समान पुराने झोपड़ों को भस्म करके राष्ट्र का नवीन महल निर्माण कर रहा था। इस नई संतति ने जिस उद्योग में हाथ डाला, उसे बिना पूर्ण किये वह शान्त होता

नहीं दीखता था । इस नवीनता के भीतर जो प्राचीनता थी, वही निकट भविष्य के स्वाधीन भारत को संसार के राष्ट्रों में प्रमुख स्थान देने वाली थी ।

जो भारत ।

जो भारत

अठारवीं शताब्दी में विद्या का, लक्ष्मी का, रणशक्ति का केन्द्र था, जिस पर प्रबल योद्धा और वर्धनशील कट्टर मुसलमान भी ७०० वर्षों में क्षण के लिये निर्विघ्न शासन न कर सके, उसे ग्रेट ब्रिटेन ने ५० वर्षों में अनायास ही मुट्ठी भर चरित्र और नीतिहीन व्यक्तियों के द्वारा अधिकृत कर लिया और १०० वर्षों तक एक छत्रछाया के जादू से मोहित कर मोह-निद्रा से सुला रखा । जब यह अद्भुत घटना घटी थी, तब देश दुर्बल, अज्ञानी और जंगली जातियों का स्थान न था । प्रत्युत् राजपूत, मराठा, सिख, पठान, मुगल आदि योद्धा-जातियों का निवास था । उस समय नाना फड़नवीस जैसे विलक्षण राजनीति-पटु पण्डित, माधोजी सिन्धिया जैसे रणपण्डित, सेनापति हैदरअली और रणजीतसिंह जैसे तेजस्वी और प्रतिभाशाली राज्य-निर्माता देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जन्म ले चुके थे और यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि १८ वीं शताब्दी के भारतवासी संसार की किसी भी जाति की अपेक्षा कम शौर्यशाली और तेजस्वी एवम् बुद्धिमान न थे ।

फिर किसलिये ।

फिर किसलिये

ग्रेट ब्रिटेन ने भारत अधिकृत कर लिया ? क्या एकता के अभाव से ? महाभारत के काल में भी एकता का अभाव था, चन्द्रगुप्त और अशोक के समय भी एकता न थी, भारत में कभी एकता न थी, न मुगल-राज्य-काल में, न १८ वीं शताब्दी में,

तब क्या अंग्रेजों के गुणों के कारण ? क्या क्लाइव और हैस्टिंग्स जैसे नर-पशुओं के कारण ? नहीं नहीं, भारत की पराजय होने का कारण था ।

‘जातीयता का अभाव ।’

‘जातीयता का अभाव’

जो उस समय भारत में था । अंग्रेजों में जातीयता रम रही थी । उस जातीयता की भावना ने ग्रेट ब्रिटेन को भारत पर विजय बनाया । वह देशप्रेम से भिन्न वस्तु थी । १८ वीं शताब्दी के अंग्रेज ने स्वदेशहित के लिए भारत में पदार्पण नहीं किया था, न उन्होंने स्वदेश हित के लिए भारत को विजय ही किया । वे व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर आये थे, उसी भावना से उन्होंने भारत को विजय भी किया । परन्तु उसके मूल में जातीयता के पूर्ण भाव विद्यमान थे । जो कोई अपने देश के सात्विक अहं भाव पर अपने स्वार्थ को न्योछावर करता है, वह देश-प्रेमी है, और जो अहंभाव को अधुण रखकर उसी के द्वारा देश के अहं को

वर्धित करता है, वह जातीयता के भाव से ओतप्रोत है। जातीयता के भाव से प्रेरित होकर अँग्रेज अपने स्वार्थ-साधन साथ मानगौरव और साहस के साथ युद्ध में निर्भय प्राण त्यागे, भारत में उसके स्थान पर तामसिक-अज्ञान और राजस्व भावना बहुत अधिक हो गई थी, इसी से उसमें अनुवृत्ति, शहीनता, विषाद और हीनता उत्पन्न हो गई थी।

स्वाधीनता और संगठन।

स्वाधीनता और संगठन

ये दो प्रबल गुण अँग्रेजों में चिरकाल से थे, उन्हीं के बल पर संसार विजयो हो सके।

भारतवासी इन गुणों के न होने पर भी शौर्य, बल और तेज अतुलनीय थे, इसी से सहस्रों वर्षों के आक्रमण सहकर भी जीवित रह सके। उस समय उत्तर भारत में आत्मकलह और अन्तर्विग्रह ने तथा बंगाल को बौद्धिक-संस्कृति के ह्रास और तमो की वृद्धि ने जर्जर कर दिया था, तब बंगाल में द्रव्य और छ स्वार्थ पर मरने वालों की कमी न थी।

आध्यात्म शक्ति ने दक्षिण की रक्षा की। शंकर, रामानुज, तुकाराम, नानक, रामदास, दयानन्द वहाँ जन्म लेते गये देश की नीयत शुद्ध न थी, शंकर के अद्वैत ने तमोगुण भाव समर्थन किया, चैतन्य के प्रेम ने अकर्मण्यता का रूप ग्रहण

या, रामदास की शिक्षा प्राप्त करने पर भी महाराष्ट्र स्वार्थ-
विधता और आत्म-कलह में जा गिरा ।
अठारहवीं शताब्दि में—

अठारहवीं शताब्दि में,

हमारा धर्म और समाज विधानकर्ताओं के साथ वद्ध था ।
वाह्याडम्बर और क्रियाएँ धर्म कह कर पुकारी जाती थीं । परन्तु
इस वार जब देश सामूहिक रूप से जागा तो उसमें जातीयता की
वायु वह रही थी । उसने प्रथम वार जो जातीय-गान हृदयंगम
किया वह था—

वन्देमातरम् !—

वन्देमातरम्,

ने देश में एक जीवन दिया, जातीयता की-प्रतिष्ठा का अंकुर
हृदय में उगा कर प्रथम सात करोड़ बंगाली और अन्त में चालीस
करोड़ भारतीयों का यह जातीय गीत बना । जातीय धर्म का
सदा घात करने वाली पराधीनता की भित्ति को भारत ने समझा ।
रोमन राज्य के आधीन हो तथा रोमन सभ्यता को स्वीकार कर
अ० स्त०—१४

समस्त यूरोप ने अति आनन्द के दिन व्यतीत किये थे, परन्तु अन्त में मनुष्यत्व का उसी में विनाश हुआ था।

नव्य भारत !—

नव्य भारत !

नव्य भारत पृथ्वी भर के राजनैतिक पण्डितों के लिये अध्ययन करने का महत्वपूर्ण विषय हो उठा है। संसार की तीनों महाशक्तियाँ—यूरोप, अमेरिका और रूस भारत की ओर टकटकी लगा देख रही हैं। यूरोप ने एशिया को हर तरह कुचल कर उसका रक्तपान किया था। अमेरिका विकसित यूरोप की मिश्रित जातियों का एक महत्वपूर्ण विकास था, जिसने अध्यवसाय, साहम और संगठन के जोर पर अपनी वह हैसियत पैदा की थी वह चाहे जब प्रतापी यूरोप को लात मारकर नीचे गिरा सकता था। किन्तु एशिया, जो प्राचीन महाराज्यों और महाशक्तियों का एक विस्तृत भूखण्ड था, इस समय तक अपने अतीत इतिहास के कारण पृथ्वी भर के विद्वानों के लिये कौतूहल और चमत्कार का मध्यविन्दु तथा रहस्यपूर्ण बना हुआ था। परन्तु अब जाग्रत होकर अपनी पुनर्रचना कर रहा है तथा शीघ्र उद्ग्रीव योरुप और गर्वित अमेरिका के बराबर खड़ा होने की स्पर्धा करना चाहता है। इस उसे अपना अमोघ अस्त बनाने की घात में है। भविष्य का भारत ही उसके अभ्युदय का केन्द्र होगा। भारत के प्रांगण में ही निम्न

